वर्ष 3, अंक 1-2 जनवरी-जुलाई, 1987

उन्मीलन

भारतीय हिन्द-स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य

सहयोगी

गोविन्दचंद्र पांडे, दयाकृष्ण, राजेन्द्रप्रसाद पांडेय

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

उन्मीलन : वर्ष ३, अंक १–२
जनवरी-जुलाई, १९८७

1

दर्शन या अध्यात्मविद्या

नारायण शास्त्री द्राविड़

दर्शन क्या है ? उसका विचार्यविषय क्या है ? उसके मनन-चिन्तन का प्रयोजन क्या है ? क्या दर्शन के विषय विज्ञान से गतार्थ हो जाते हैं ? इन प्रश्नों की चर्चा इस शती के प्रारंभिक दशकों में दार्शनिक मनीषियों के गंभीर चिन्तन का प्रमुख अंग बनी हुई थी। विज्डम, लेज़रोविज़, एयर, वेज़मान आदि अनेक पाश्चिमात्य विद्वानों ने इन प्रश्नों की अपने निबंधों और ग्रंथों में भी विस्तृत चर्चा की है। इस चर्चा का सामान्य निष्कर्ष यह रहा कि जैसी पारंपरिक दर्शन की मान्यता रही है कि दर्शन एक स्वतंत्र ज्ञान-शाखा है और वह विज्ञानादि अन्य ज्ञान-शाखाओं से श्रेष्ठ या उनके समकक्ष है वैसी वास्तविकता नहीं है। न दर्शन का कोई अपना स्वतंत्र विचार्य विषय है, न वह विज्ञान के समकक्ष ही है। अधिकतर दर्शन चर्वितचर्वण के रूप में सदियों पूर्व कही गयी बातों व तथाकथित सिद्धान्तों को दुहराता रहता है। दार्शनिक विचार सत्यासत्यता की कसौटी पर परखे नहीं जा सकते। एक ही विचार को अनुकूल-प्रतिकूल तर्कों के द्वारा प्रस्थापित तथा खंडित करना पारंपरिक दर्शन में बराबर चलता रहा है। दार्शनिक विचारों का कोई व्यावहारिक प्रयोजन या उपयोग भी नहीं दिखाई पड़ता। तब फिर दर्शन का उपर्युक्त कार्य है क्या ? इसका उत्तर उक्त दार्शनिकों के विचारानुसार यह है कि विज्ञान में प्रयुक्त होने वाले संप्रत्ययों-जैसे संभावना, आगमानुमान-पद्धतियां, तर्क, प्रतिज्ञप्ति, प्रामाण्य, निष्कर्षण तथा उस की पद्धतियां आदि—का विश्लेषण द्वारा स्पष्टीकरण करना। अन्य जितने भी विचार्य विषय या तथ्य हैं उनका विवेचन कोई न कोई विज्ञान अपनी वैज्ञानिक पद्धति से करता ही है। जो विषय विज्ञान की विचार-कक्षा में अब तक नहीं प्रवेश कर पाये हैं, जैसे आत्मा की सत्ता, मरणोत्तर जीव का अस्तित्व आदि—दर्शन में विचारित अवश्य हैं किन्तु यह दार्शनिक विचार सत्यासत्यता के निर्णय के परे होने से निष्फल साबित होता है। विज्ञान के निष्कर्ष ही ठोस, परखने योग्य, व्यवहार्य, तथा मनुष्यजीवन से साक्षात् संबद्ध हुआ करते हैं। इस कारण दर्शन विज्ञान का अनुगामी है और उसकी अध्ययन-पद्धति प्रयोग-निरीक्षणात्मक न होकर मुख्यतया

विश्लेषणात्मक होती है। अधिकतर यह विश्लेषण सांप्रत्ययिक होता है। भाषीय विश्लेषण का भी प्रायः दर्शन में सहारा लिया जाता है। जब सामान्य या वैज्ञानिक भाषा के कुछ प्रयोग सामान्य अनुभवों के अतिक्रामी प्रतीत होते हैं—जैसे भौतिक विज्ञान में प्रचलित 'संभाव्यता-क्षेत्र' (रीज्यन ऑफ प्रॉबेबिलिटी) का प्रयोग—तब उनका सामान्य भाषीय रूपांतरण प्रस्तुत कर उनकी अर्थवत्ता प्रस्थापित करने के लिये भाषीय विश्लेषण का प्रयोग दर्शन को करना पड़ता है।

दार्शनिक विश्लेषण कैसे महत्त्वपूर्ण है, भले ही वह विज्ञान का अनुगामी हो, इस स्व-प्रतिपादित सिद्धान्त की प्रसिद्ध विचारक एयर ने अपने **सेंट्रल क्वश्चंस् ऑफ फिलोसोफी** ग्रंथ में सोदाहरण चर्चा की है। कई उदाहरणों में से एक 'गति' की संभावना की चर्चा ग्रंथ के प्रारंभिक प्रकरण में एयर ने की है और किसी तरह गति की सत्यता का समर्थन किया है। समर्थन तो बिल्कुल लचर है, गति के विरुद्ध जो आक्षेप ज़ीनो या नागार्जुन ने प्रस्तुत किये हैं उनमें से शायद ही किसी का संतोषजनक समाधान एयर के प्रतिवाद से प्राप्त होता हो। एक सरलतम आक्षेप लें। मान लें कि एक फुट की दूरी एक चींटी को तय करनी है। इसके लिये आधा फुट, चौथाई फुट, १/१६ फुट, १/३२फुट आदि क्रमशः कम होती हुई दूरियां चींटी को तय करनी होंगी। ऐसी दूरियों का कोई अंत नहीं है क्योंकि वे 1, 1/2, 1/4 1/8, 1/16, 1/32, 1/64, ऐसी अनंत ज्यामितीय परंपरा से बनी हुई हैं। यह बात भी नहीं कि ये दूरियाँ केवल काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं। किन्हीं भी दो निकटतम बिन्दुओं के बीच की दूरी का इसी तरह अनंत सूक्ष्मातिसूक्ष्म दूरियों में विभाजन केवल कल्पना ही नहीं है, वह वास्तविक है। चींटी के बदले एक गतिशील बिन्दु की ही कल्पना कर यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह बिन्दु अपने स्थान से सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतर को कैसे तय कर पायेगा? इस मूलभूत प्रश्न के जो उत्तर संभव हैं वे ये हैं: १. कोई भी अंतर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतरों में विभाज्य होता नहीं है। २. गतिमान् वस्तु के लिये यह कदापि आवश्यक नहीं है कि वह दो बिन्दुओं के बीच के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतरों को क्रमशः तय कर ही अपने गंतव्य स्थान तक पहुँचे। ३. गतिमान् वस्तु की गंतव्य प्रदेश के विभिन्न बिन्दुओं पर विभिन्न क्षणों में अवस्थिति ही उसकी गतिमत्ता है। ४. चूंकि प्रत्यक्ष में अनंततया विभाज्य दूरी के भी ओर-छोर में दो बिन्दु होते हैं अतः अनंत भी सीमित है ५. गति और स्थिति एक ही हैं।

गति की संभाव्यता की समर्थक इन विविध युक्तियों में एक भी संतोषजनक नहीं है। किन्तु यहां विचारणीय प्रश्न गति का समर्थन कैसे किया जाय यह नहीं है। यह प्रश्न गणितांतर्गत अनंत पद-संतान के विषय से संबद्ध है जिसकी चर्चा गणित में ही उपयुक्त है। दर्शन में वह अप्रासंगिक है। यही बात 'संभावना' आदि के बारे में भी कही जा सकती है। केवल तर्क या अनुमान-पद्धतियों का विचार दर्शन की कक्षा में अंतर्भावित माना जा सकता है यदि दर्शन को तर्कशास्त्र का सभावेशी माना जाय। लेकिन तर्कशास्त्र का स्वतंत्रत या असामान्य रूप से विकास अब जब हो गया है तब तर्क-पद्धतियों को भी दर्शन का विषय मानना उचित नहीं होगा।

अब तक की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चिमात्य दार्शनिक दर्शन का स्वरूप, विषय या प्रयोजन अनेक दशकों की चर्चा के बाद भी यथावत् निर्धारित नहीं कर पाये हैं। इस परिप्रेक्ष्य में भारतीय विचारकों की दर्शन-संबंधी धारणा का ऊहापोह करना अतीव उपयुक्त होगा क्योंकि वह दर्शन को सदा से सर्व विद्याओं में श्रेष्ठ, परम पुरुषार्थ-साधन तथा परम सत्य का प्रकाशक मानती आ रही है : "प्रदीपः सर्व विद्यानां उपायः सर्व कर्मणाम्, आश्रयः सर्वधर्माणाम्" इन महनीय शब्दों में दर्शन की श्रेष्ठता भारतीय चिन्तकों ने उपवर्णित की है। क्या यह अतिशयोक्ति मात्र है या दर्शन वास्तव में एक स्वतंत्र तथा उच्च कोटि का ज्ञान है जो अन्य ज्ञान विधाओं से विषय, पद्धति तथा प्रयोजन आदि सभी बातों में श्रेष्ठ है? यदि भारतीय विचारकों की दर्शन संबंधी अवधारणा सही हो तो यह स्पष्ट करना होगा कि दर्शन का विषय विज्ञानों में गतार्थ कैसे नहीं है, दार्शनिक ज्ञान अन्य ज्ञानों से कैसे श्रेष्ठ है, दार्शनिक चिन्तन चर्वितचर्वण मात्र कैसे नहीं है, तथा दर्शन कैसे परम पुरुषार्थ-साधन हैं। पाश्चात्य दार्शनिक पारंपरिक दर्शन को हेय इसीलिये मानते हैं कि उनके अनुसार उसका न कोई अपना विषय है, न कोई परिनिष्ठित निष्कर्षण या कोई व्यावहारिक प्रयोजन। इसीलिये वे विज्ञान की तुलना में दर्शन को एक अवर कोटि की बौद्धिक या भावनात्मक प्रक्रिया ही समझते हैं।

भारतीयों की दर्शनविषयक अवधारणा को बिल्कुल नपेतुले ढंग से बताने वाला शब्द 'अध्यात्म विद्या' है जो बड़ा ही अर्थपूर्ण है। 'अध्यात्म' शब्द 'अधि' तथा 'आतम' इन दो शब्दों से बना है। 'अधि' प्रत्यय का अर्थ 'आधारित' ऐसा होता। 'अधि' से विषयि-भाव का बोध नहीं होता,अतः दर्शन आत्मविषयक विद्या न होकर आत्माधिष्ठित विद्या है, ऐसा 'अध्यात्म विद्या' शब्द से बोध होता है। अब यह देखना है कि दर्शन कैसे आत्माधिष्ठित ज्ञान है। 'आत्माधिष्ठित का अर्थ 'आत्मप्रत्यय पर अधिष्ठित' ऐसा करना चाहिये क्योंकि कोई भी ज्ञान साक्षात् आत्माधिष्ठित नहीं होता। आत्मज्ञान भी आत्मनिष्ठ ही होता है आत्माधिष्ठित नहीं। अतः आत्मप्रत्ययाधिष्ठित ज्ञान अध्यात्म विद्या है और वही दर्शन भी है। कैसे दर्शन आत्म-प्रत्यया-धिष्ठित है इस तथ्य का स्पष्टीकरण शंकराचार्य ने अपनी ब्रह्मसूत्रभाष्य की प्रस्तावना के अंत में बड़े मार्मिक ढंग से किया है। ब्रह्म या आत्मा नितांत अविषय नहीं है, वह आत्मप्रत्यय गोचर है, इस प्रस्थापना से प्रारंभ कर अंत में ब्रह्म-जिज्ञासा या आत्म-जिज्ञासा के समर्थन में शंकर कहते हैं कि आत्मा के संबंध में तरह-तरह की धारणायें अपनाकर लोग सब कार्यकलापों में प्रवृत्त होते हैं, याने इन धारणाओं के अनुसार वे अपने जीवन को ढालते हैं। उदाहरण के रूप में शरीरात्मवाद, (धनात्मवाद आदि) का उल्लेख कर शंकर बतलाते हैं कि जो जिसे आत्मा समझता है उसका समग्र जीवन ही उसकी उस आत्म विषयक अवधारणा से निर्धारित होता है। आत्मा की अव-धारणा अवधारणा मात्रा नहीं होती। यह ज्ञात या अज्ञात रूप से जीवन के सभी छोटे-बड़े क्रिया-कलापों को अपने रूप में ढालती है। आत्मा की अवधारणा अनिवार्यतया एक जीवन-व्यापी आदर्श बन जाती है। इस कारण यह बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि हम कैसी आत्माव धारणा को अपनाते हैं। यह बात नहीं कि हम सदैव बुद्धिपूर्वक किसी आत्मावधारणा को अपना कर उसे कार्यान्वित करते रहते हैं। अधिकतर ऐसी अवधारणायें निसर्गतः ही हमारे

मन में उद्बुद्ध होकर पनपती रहती हैं। इन अवधारणाओं का परित्याग करने की भी स्थिति जीवन में कभी-कभी उत्पन्न होती है। एक आत्मावधारणा से दूसरी आत्मावधारणा तक संक्रमण का समय प्रायः एक आध्यात्मिक उथल-पुथल का समय हुआ करता है।

आत्मावधारणा का ऐसा जीवनव्यापी महत्त्व होने से आत्म के वास्तविक स्वरूप की जिज्ञासा नितान्त उपयुक्त है ऐसा दार्शनिक चिन्तन की आवश्यकता का समर्थन शंकर ने किया है। अब यह देखना है कि आत्म पर या आत्मसंप्रत्यय विशेष पर अधिष्ठित जो ज्ञान है उसका विषय क्या होगा ? यदि बाह्य (तथा आंतरिक) विषय ही अध्यात्मविद्या के विषय माना जाये तो विज्ञान में ही अध्यात्मविद्या चरितार्थ माननी पड़ेगी। पारंपरिक दर्शन के संबन्ध में अर्वाचीन दार्शनिकों का यही आक्षेप है। इस आक्षेप का उत्तर 'अध्यात्म' शब्द के अर्थ में निहित है। विज्ञान के विषयों का दर्शन विचार करता है किन्तु उसका यह विचार किसी न किसी आत्म-प्रत्यय पर अधिष्ठित होता है। उदाहरण के रूप में बहुजन संमत देहात्मवाद को लें। जो देह को ही आत्म या जीवनसर्वस्व मानते हैं उनकी दृष्टि में विश्व की सभी जड़-चेतन वस्तुएं तथा घटनाएं व्यक्ति की दैहिक सुख-सुविधा की ही प्रत्यक्ष या परोक्ष साधन होंगी। देहात्मवादी व्यक्ति अन्य अपने जैसे व्यक्तियों की ओर भी अपने दैहिक सुख के साधन के रूप में ही देखेगा। ऐसे व्यक्ति की सामाजिक-धार्मिक तथा नैतिक अवधारणायें दैहिक सुख की भावना से ही निर्धारित होंगी। यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् जैसी उक्तियां देहात्मवादाधिष्ठित व्यापक जीवन-दृष्टि को ही स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करती हैं।

यहां एक गंभीर प्रश्न उपस्थित होता है। जैसे देहात्मवादी दृष्टिकोण विपर्यस्त सा लगता है वैसे ही अन्य वस्तुओं को आत्म समझने वाले दृष्टिकोण भी पूर्णतः नहीं तो अंशतः विपर्यस्त ही होंगे। ऐसे दृष्टिकोण विश्व के यथार्थ स्वरूप के आकलन में कैसे सहायक होंगे ? क्या यह आकलन व्यक्ति-केन्द्रित अतएव अवास्तविक नहीं होगा ? इसके विपरीत विज्ञानों के प्रयोग-परीक्षण किसी भी प्रकार की आत्मभावना का आधार न लेने के कारण ही वस्तुनिष्ठ हो पाते हैं। आत्मकेन्द्रित दार्शनिक चिन्तन अवस्तुनिष्ठ ही नहीं वह पूर्णतः सामान्यात्मक सिद्धान्तों के रूप में प्रतिपादित होने से वस्तुविशेषों के संबंध में कोई भी प्रकाश नहीं डाल सकता। इन प्रश्नों के समाधानार्थ वैज्ञानिक चिन्तन के अधिष्ठान का कुछ विचार करना प्रासंगिक होगा।

विज्ञान का मनन-चिन्तन या प्रयोग-निरीक्षण पूर्णतया अवैयक्तिक एवं सौ फीसदी वस्तु-निष्ठ हुआ करता है, यह धारणा भी नितान्त भ्रामक है। वैज्ञानिक अध्ययन वैज्ञानिक ही करता है। इस अध्ययन के लिए प्रयुक्त होने वाले सब प्रकार के उपकरणों का उपयोग वैज्ञानिक ही किया करता है। इस प्रयोग या उपयोग के प्रमुख साधन वैज्ञानिकों की इंद्रियां हैं। इंद्रियों के द्वारा ही सभी वैज्ञानिक प्रयोग-निरीक्षण आदि संपन्न होते हैं। इंद्रियों का सामर्थ्य ही सूक्ष्मदर्शक, स्थूल-दर्शक जैसे यंत्रों द्वारा कई गुणा बढ़ाकर वैज्ञानिक अपने निरीक्षण आदि को अधिकाधिक सूक्ष्मग्राही बनाता है। यही नहीं, इन्द्रियाधिष्ठान जो वैज्ञानिक का शरीर है उसी के देश-बिन्दु से वैज्ञानिक वस्तुओं की नाप-जोख आदि का प्रारंभ करता है। कोई वस्तु आगे है, पीछे है, दूर है, पास है, इतनी या उतनी लंबी है इन सारी बातों का

सही-सही निर्धारण अपने शरीर के (तथा शरीर-स्थित इद्रियों के) अवस्थान-बिन्दु, से ही वैज्ञानिक किया करता है। अतः जाने या अनजाने वैज्ञानिक के समग्र प्रयोग-परीक्षणों का अधिष्ठान उसका शरीर ही हुआ करता है। अपने और अन्य वैज्ञानिकों के अन्तर को जानने के कारण वस्तुओं की नाप-जोख भिन्न-भिन्न द्रष्टाओं के लिये क्या होगी यह प्रत्येक वैज्ञानिक अनायास जान लेता है: इस कारण वैज्ञानिक अनुसंधान व्यक्ति-शरीराधिष्ठित होने पर भी उसके निष्कर्ष अवैयक्तिक बने रहते हैं।

शरीराधिष्ठान उपलब्ध न होने पर वैज्ञानिक निष्कर्ष कैसे सामान्य बुद्धि के लिये अगम्य और चमत्कारी हो जाते हैं इस बात का प्रमाण सापेक्षतावाद के प्रयोग से प्राप्त हुए निष्कर्ष हैं। अनंत दूरियों के संबंध में विचार करने के लिये शरीर को अधिष्ठान मानना कोई मतलब नहीं रखता। प्रकाश जैसे १८,६००० मील प्रति सैकिंड गति वाले पदार्थ को ही चतुरायामात्मक दूरी नापने का अधिष्ठान माना जा सकता है। यदि कोई पदार्थ प्रकाश जैसा गतिमान् हो तो उसके साथ रखी हुई घड़ी कम गतिवान् पदार्थों के साथ रखी हुई घड़ी से बहुत कम समय दिखायेगी। प्रकाश की गति यदि कोई मनुष्य प्राप्त कर ले तो वह मनुष्य के साधारण जीवन-काल से कहीं अधिक समय में वार्धक्य प्राप्त करेगा। ऐसे व्यक्ति का एक वर्ष का जीवनकाल पृथ्वी-स्थित व्यक्तियों के कई वर्षों के जीवनकाल के बराबर होगा।

इन सारी विचित्रताओं का यहां निर्देश करने का कारण केवल यही है कि वैज्ञानिक जिस वस्तुनिष्ठता तथा अवैयक्तिकता का अपने अन्वेषणों के सन्बन्ध में दावा करते हैं वह नितान्त भ्रांतिपूर्ण है। जैसे विशाल विश्व के सम्बन्ध में शरीराधिष्ठित वैज्ञानिक प्रयोग-निरीक्षण आदि गलत सिद्ध हुए हैं वैसे ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओं के विश्व में भी ऐसे प्रयोग उलझन में डालने वाले साबित हुए हैं। यह बात अब शत प्रतिशत निश्चय के साथ कही जा सकती है कि अणु (एलेक्ट्रॉन) की स्थिति तथा गति का एक-साथ सही-सही निर्धारण कदापि नहीं किया जा सकता। अणु की गति की नाप (अत्यंत संवदेनशील यंत्र के द्वारा किये जाने पर भी) जितनी सही होगी उतनी ही गलत उसकी स्थिति की नाप होगी। यह एक नैसर्गिक अनिवार्यता है। इसी प्रकार अणु एक परिधि से दूसरी छोटी या बड़ी परिधि में जब प्रवेश करते हैं तो बीच की कई परिधियों का संक्रमण किये बिना ही करते हैं यह बात सिद्ध हो गयी है। इन सारी विचित्रताओं का कोई (शरीराधिष्ठित) स्पष्टीकरण प्राप्य नहीं है।

शरीराधिष्ठान का वैज्ञानिक अनुसंधान में कैसा असामान्य महत्त्व है इस बात का एक और प्रमाण विचारणीय है। मान लें कि सर ओलिवर लॉज जैसा कोई वैज्ञानिक मृत्यु के बाद भी अपना वैज्ञानिक अनुसंधान जारी रखना चाहता है। क्या वह सामान्य स्थल-कालादि की अवधारणाओं से काम चला सकता है? कदापि नहीं। ऐसे अशरीरी वैज्ञानिक के लिये अनंत काल तथा स्थल पूर्णतया प्रदत्त होंगे। उसका विश्वदर्शन सामान्य मनुष्य की विश्व विषयक अवधारणाओं से इतना भिन्न होगा कि उन दोनों की तुलना ही नहीं की जा सकती।

सभी वैज्ञानिक अनुसंधानों की इस मूलभूत तथा अनिवार्य व्यक्तिनिष्ठता का विचार कर ही महान् तत्त्वचिंतक कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने **कांसेप्ट ऑफ फिलोसोफी** निबन्ध में लिखा था कि "विज्ञान की विषय के प्रति अहम्मन्य और स्वार्थपरक अभिवृत्ति ही वास्तव में आत्म तत्त्व में दर्शन के रूप में वह प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है जो उसके अपने प्रति इस अतिचार का शोधन कर सकती है।[1]

एक अन्य निबंध में भट्टाचार्यजी ने वैयक्तिकता या विषयिनिष्ठता के कई स्तर प्रतिपादित किये हैं। उनमें से शारीरिक विषयिता वैज्ञानिक अनुसंधान का अधिष्ठान है ऐसा मानना उपयुक्त होगा। यह बात अलग है कि वैज्ञानिक इस प्रकार की विषयिता से स्वयं अनभिज्ञ रहते हैं।

दार्शनिक चिन्तन मूलतः ही शरीरातिक्रामी हुआ करता है। लौकायतिक दर्शन ही इस का एकमात्र अपवाद है। शरीराधिष्ठान की उपेक्षा कर आत्म की विविध अवधारणाओं को आधार मान कर दार्शनिक लोग विश्व के संबंध में तरह तरह के सिद्धान्त प्रस्तुत करते रहते हैं। शरीर तथा शरीर-स्थित इंद्रियां विशेषग्राही होते हैं अतः शरीराधिष्ठित विज्ञान वस्तुओं पर व्यक्तिशः प्रयोग कर सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचता है। दर्शन शरीराधिष्ठित न होने से उसका अनुसंधान (या विश्व के स्वरूप का आकलन) विशेष से सामान्य की ओर अग्रसर नहीं होता। प्रारंभ से ही वह सामान्याभिमुख हुआ करता है।

इस आत्मप्रत्ययाधिष्ठित दार्शनिक चिन्तन-प्रक्रिया को एक-दो उदाहरणों से अधिक विशद किया जा सकता है। वैशेषिक दर्शन के मूल में आत्म सम्बन्धी एक विशेष अवधारणा है जो कभी-कभी घटित होने वाले देहावस्थित आत्मानुभव से निष्कृष्ट की गयी है। शरीर में आत्म-बुद्धि सामान्यतः होती है किन्तु मनन-चिन्तन आदि की स्थितियों में आत्मभान तीव्र होने पर भी शरीर-भान नहीं होता। निद्रा जैसी स्थितियों में सुख-दुःखादि-विरहित शुद्ध-निर्विशेष आत्म का ही भान होता है। इन सब आत्मसंबंधी अनुभवों पर से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आत्म शरीर-संश्लिष्ट होकर भी उससे भिन्न है, सुख-दुःखादि से युक्त होकर भी उनसे विरहित रह सकता है। ऐसी सुख-दुःखादि-रहित स्थिति में भी एक आत्म अन्य आत्म नहीं हो जाता। तथापि भिन्न-भिन्न आत्माओं में साम्य भी अनुभवसिद्ध है। इन सब निष्कर्षों को मिलाने पर विश्व को लागू की जाने वाली द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि की वर्गणायें प्राप्त होती हैं। ये आत्मानुभव-प्रसूत विशिष्ट आत्म से प्रत्ययाधिष्ठित वर्गणायें हैं। जैसे इंद्रियों से प्रत्यक्षीकृत पदार्थ इंद्रियों की आकलन शक्ति और प्रकारता की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर सकते वैसे ही आत्म-प्रत्ययाधिष्ठित वैश्विक दृष्टि भी इस प्रत्यय के गुण-दोषों का अतिक्रमण नहीं कर सकती।

सांख्य का आत्म संप्रत्यय वैशेषिकों के आत्म-संप्रत्यय से बहुत कुछ भिन्न है। सांख्य में द्रव्य, गुण के या अन्य प्रकार के भेदों को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है न ही आत्म या पुरुष को गुणाधार माना गया है। निर्विशेष पुरुष, जो प्रकृति या प्राकृत शरीर से अभिभूत होकर सांसारिक बंधन का अनुभव करता है और ऐसा अनुभव करते हुए भी

---

1. It is the arrogant exploiting attetude of science towards the object that provoks a self healing reaction of the spirit in form of philosophy.........."

ताटस्थ्य भाव से अपने ही शरीर का निरीक्षण कर पाता है, वह इस दर्शन का मूलभूत संप्रत्यय है। कैसे इस संप्रत्यय से क्रमशः इस दर्शन के मूल तत्त्वों का निष्कर्षण किया जा सकता है यह स्वतंत्र प्रश्न है जिसकी चर्चा यहां अप्रासंगिक है। यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रत्येक भारतीय दर्शन विश्व का विचार किसी न किसी आत्माधिष्ठित दृष्टिकोण से ही प्रारंभ करता है। बौद्ध दर्शन भी नैरात्म्यवादी होने पर भी शाश्वत आत्मवाद के विरुद्ध क्षणिक सत्तावाद की दृष्टि से ही जगत् का विचार प्रस्तुत करता है।

दार्शनिक दृष्टि वैज्ञानिक या अन्य प्रकार की दृष्टियों से सर्वथा श्रेष्ठ है यह बात अब तक के विवेचन से स्पष्ट हो जानी चाहिये। शरीर तथा शरीराधिष्ठित स्थल एवं काल आदि की जो मर्यादायें वैज्ञानिक अनुसंधानों को बांधे हुए रहती हैं वे दार्शनिक चिन्तन के लिए नगण्य सी हो जाती हैं। दार्शनिक शरीरी होते हुए भी अशरीरी की तरह विश्व की देश-कालिक स्थानितता से अतीत हो कर अनुध्यान करता है। इसीलिये उपनिषत्, प्लेटो आदि दार्शनिक को 'कवि या क्रान्तदर्शी' कहते हैं। शरीरातिक्रमण की क्षमता दार्शनिक में होने के कारण ही देकार्त जैसा दार्शनिक अपने ही शरीर की सत्ता के संबंध में संदेह व्यक्त करने का बौद्धिक साहस दिखा पाता है। कांट ने कहा था कि बुद्धि की (या बुद्ध्याधिष्ठित) वर्गणाओं द्वारा ही हम इंद्रिय प्रदत्त विषयों को ग्रहण करते हैं। सही बात यह है कि जिन्हें कांट बुद्धि की वर्गणायें कहता है वे आत्मसंप्रत्यय-प्रसूत वर्गणायें हैं। आत्म का अनुभव सब अनुभवों में प्राथमिकता रखता है। प्रथम, मनुष्य आत्म का गलत-सही आकलन करता है और तदनुसार अनात्म को समझने का प्रयास करता है। सभी दर्शन एक प्रकार का मानव-दर्शन या आत्मदर्शन हैं।

यदि विषयिनिष्ठता न विज्ञान से न दर्शन से ही अपवारित की जा सकती है तो विज्ञान तथा दर्शन के निष्कर्ष विश्वसनीय कैसे समझे जाँय? क्या कल्पना की उड़ानों और इन निष्कर्षों में कोई मूलभूत भेद है? यह बात जरूर है कि वैज्ञानिक निष्कर्ष व्यवहार्य होते हैं किन्तु विज्ञान के मूल में जो वैयक्तिकता या शरीराधिष्ठितता है उसका विचार करने पर वैज्ञानिक निष्कर्षों का कार्यान्वित होना एक चमत्कार ही मानना होगा।

प्रश्न अतीव मूलगामी है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक अब यह मानने लगे हैं कि ब्रह्मांड तथा अणु-विश्व में विज्ञान के निष्कर्ष सही सही नहीं होते। सुदूरवर्ती नीहारिकायें पृथ्वी से दूर (लगभग प्रकाश की गति से) जा रही हैं या नहीं, विश्व का लगातार विस्तार हो रहा है या संकोच इत्यादि मौलिक प्रश्नों का निश्चित उत्तर देना चोटी के वैज्ञानिकों के लिये भी कठिन हो रहा है। अणुओं के लिये किसी भी नियम को नपे-तुले ढंग से नहीं लागू किया जा सकता यह बात अब गणित से सिद्ध हो चुकी है। अणुओं के लिये अब संभाव्यता-क्षेत्र (रिज्यन ऑफ प्रॉबेबिलिटी) इस अनिश्चयताबोधक पद का ही प्रयोग किया जाता है। इन बातों पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान की वस्तुनिष्ठता केवल आंशिक है। समग्र विश्व के संबंध में वैज्ञानिक निष्कर्ष दार्शनिक निष्कर्षों से अधिक सत्यता का दावा नहीं कर सकते।

इस स्थिति का कारण क्या विज्ञान और दर्शन की वैयक्तिकता या विषयिनिष्ठता मात्र है? नहीं। असलियत यह है कि विश्व को, जिसमें उसके द्रष्टा भी सम्मिलित हैं,

द्रष्टाओं ने कृत्रिम रूप से दृश्य और द्रष्टा इन दो वर्गों में विभक्त मानकर विश्व की सचाई जानने के अनेकविध प्रयास जारी रखे हैं। द्रष्टा का दृश्य के साथ उतना घनिष्ठ संबंध है जितना दृश्यों का परस्पर से है इस गहन तथ्य को वैज्ञानिक तो भुला ही देते हैं। बर्ट्रैंड रसेल की कांट के विरुद्ध शिकायत थी कि उसने मध्ययुगीन वैज्ञानिकों द्वारा (इनमें न्यूटन भी शामिल था) विश्व के केन्द्र में प्रस्थापित मनुष्य को उत्तरकालीन वैज्ञानिकों द्वारा विश्व की परिधि में प्रक्षिप्त कर दिये जाने पर भी उसे विश्वग्राही बुद्धि के अधिष्ठान के रूप में ज्ञान-विषय-विश्व के केन्द्र में पुनः प्रस्थापित कर दिया। रसेल को यह शिकायत आधुनिक विज्ञान से ही करनी चाहिये थी, क्योंकि विश्व को जानने की मानवीय प्रक्रिया के चलते ही विश्व जैसे बदलता प्रतीत हो रहा है।

दरअसल जड़चेतनमय विश्व स्वयंप्रकाश है। इसमें न दृश्य है न द्रष्टा। जब तक यह भेद बना रहेगा तब तक विश्व का हमारा ज्ञान, चाहे वह वैज्ञानिक हो या दार्शनिक, अधूरा और विपर्यस्त ही रहेगा। बिश्व का ग्रहण हम तटस्थ-भाव से नहीं कर सकते। उपनिषत् कहती है 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति।' ब्रह्म या विश्व को जानना विश्व में ही समा जाना है। अपने को विश्व में तथा विश्व को अपने में व्याप्त अनुभव करना, जैसे एक उपनिषत्-वाक्य में कहा है यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह, यही विश्व के ज्ञान या अनुभव का सही तरीका है।

सीमित शरीर और उसके सहायक अन्यान्य उपकरणों की सहायता से सत्यान्वेषण करने वाले विज्ञान से आत्मसंप्रत्ययाधिष्ठित दर्शन का दायरा अधिक विस्तृत होना अनिवार्य है। तथापि आत्म-संप्रत्यय इतने विविध हुआ करते हैं कि इनमें सत्यता की दृष्टि से तरतम भाव करना ही पड़ता है। सभी प्रकार के आत्मसंप्रत्यय सत्य के आकलन में सहायक नहीं होते, इनमें कुछ भ्रामक भी हो सकते हैं। कुछ संप्रत्ययों को हम सहजतः ही अपना लेते हैं और सहजतया ही छोड़ भी देते हैं। लेकिन अधिकतर आत्म संप्रत्यय, पीछे बताये मुताबिक, हमारे समग्र जीवन-व्यापार को आक्रान्त कर हमारे व्यक्तिमत्व को पूरी तरह अभिभूत कर डालते हैं। जैसे जीवन-यापन के लिये धनार्जन का प्रयास करने वाला मनुष्य धन-संचय को ही जीवन का सर्वस्व मान बैठता है और धनार्जन के लिए ही जीवन-यापन करने लगता है। ऐसे मनुष्य का वास्तविक आत्म धन होता है, शरीर या अन्य कुछ नहीं। विश्व की प्रत्येक वस्तु या घटना धन-साधन के रूप में ही इस मनुष्य के अनुभवगोचर होती है। शंकराचार्य ने आत्म जिज्ञासा की आवश्यकता इसी लिये बतायी कि अनेकविध भ्रान्त आत्मसंप्रत्ययों से अभिभूत होकर विद्वान् लोग भी अपना जीवन बिगाड़ लेते हैं। यथार्थ आत्म-ज्ञान के बिना मनुष्य की जीवन-पद्धति नहीं सुधर सकती।

भ्रान्त आत्म-प्रत्यय से यथार्थ आत्मप्रत्यय की ओर संक्रमण की प्रक्रिया व्यावहारिक नहीं है। वह मूलतः एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है जो जीवन में पूर्ण क्रान्ति घटित हुए बिना पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकती। धन-लोभी मनुष्य के जीवन में अकस्मात् निष्कांचन होने की नौबत आये और उसे कहीं कोई अपनी आर्थिक विपत्ति से उबरने का मार्ग दिखाई न पड़े तो उसे सारा जीवन ही अर्थशून्य प्रतीत होने लगेगा। जो धन-लोभी नहीं उसे धन के नष्ट होने मात्र से समग्रजीवन के प्रति उदासीनता नहीं प्रतीत होगी। यही वह आध्यात्मिक

रिक्तता, औदासीन्य या जीवन-व्यापी दुःख है जिसकी विस्तृत चर्चा अस्तित्ववादी किया करते हैं। सामान्य दुःख आंशिक होते हैं जिनके निरास के नाना उपाय उपलब्ध हैं। किन्तु जब जीवन की मूलभूत आत्म भावना पर ही मर्माघात होता है तब किसी भी व्यावहारिक या दैवी उपाय से इस आत्म भावना को पुनः प्रस्थापित करना संभव नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य का उच्चतर आत्मसंप्रत्यय की ओर अग्रसर होना ही दुःख-निवारण का उपाय होता है। मनन, चिन्तन, सतत अनुध्यान आदि आत्मिक साधनाओं के अभ्यास से दुःखी मनुष्य अपनी अभ्यस्त तथा भ्रान्त आत्मभावना से उन्मुक्त होकर उच्चतर आत्म-भावना को आत्मसात् कर पाता है। भ्रान्त आत्मभावनाओं का बुद्धिपूर्वक परित्याग ही मोक्ष है जिसके लिये स्वात्मचिन्तन-रूप दर्शन एक महत्त्वपूर्ण साधन का कार्य करता है। दर्शन प्रारंभिक अवस्था में अन्यों के साथ चर्चा का रूप लेता है लेकिन परिणत अवस्था में वह स्वात्म चर्चा का रूप धारण करता है। दूसरों को कोई बात समझाने की अपेक्षया अपने को वह समझाना तथा जताना अत्यंत कठिन होता है।

अतः शुरू में कहे मुताबिक दर्शन एक स्वतंत्र और श्रेष्ठ विद्या है जिसका विज्ञान से नितान्त भिन्न दृष्टिकोण होता है और जो हमारी भ्रान्त आत्मधारणाओं में आमूल परिवर्तन लाकर उसके द्वारा हमारी जीवन-पद्धति को ही बदल डालती है। यही स्थिति मोक्ष है। इसके अनेक स्तर हैं जिनकी यहां चर्चा संभव नहीं है।

प्रोफेसर्ज़ कोलोनी,
हनुमान नगर, नागपुर–440009

उन्मीलन : वर्ष ३, अंक १–२
जनवरी-जुलाई, १९८७

2

भाव और संगीत

मुकुंद लाठ

भावना पर स्वतंत्र चिन्तन बहुत कम हुआ है, अधिकांशतः कलाओं के सन्दर्भ में ही कुछ चिन्तन इस पर हुआ है। शायद इसका कारण यह है कि यह समझा जाता है कि विचार भावना की शव-परीक्षा तो कर सकता है उसको उसकी सजीवता में ग्रहण नहीं कर सकता। किन्तु वास्तव में यह उतना ही भावना की लिए भी सही है: वह विचार का उसके तत्त्व-दर्शी स्वरूप में भावन नहीं कर सकती, बल्कि उसे अपने अधीन कर उसकी इस दृष्टि को धूमिल या भ्रमित ही कर सकती है। किन्तु तब भी भावना पर विचार को तो उचित माना जाता है विचार की भावनाधीनता को उचित नहीं माना जाता। इसका कारण है। कारण यह है कि तत्त्व या स्वरूप-ज्ञान का एकमात्र करण हमारे पास विचार ही है। जहां तक इस आरोप का सम्बन्ध है कि इस प्रक्रिया में भाव अपना सत्त्व ही खो बैठता है, यह आरोप वास्तव में सभी विषयों को लेकर किया जाता है। विचार को विकल्पात्मक कहने के पीछे यही धारणा है कि यह ग्रहण और ग्राह्य के बीच व्यवधान उपस्थित करता है, जानने के क्रम में यह विषय को ही खो देता है।

यह सही है या गलत यहां हम इस विवाद में नहीं पड़ेंगे, यहां हम केवल इतना कहना चाहेंगे कि स्वयं इस विवाद का भी यदि निर्णय करना हो तो उसे भी विचार के न्यायालय में ही प्रस्तुत करना होगा। इस प्रकार विचार का क्षेत्र निर्बाध है और भाव की उसके अधीन आने की आपत्ति को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

किन्तु तब भी, भाव पर हमारे यहाँ विचार बहुत कम हुआ है, केवल कला पर विचार के प्रसंग में ही उस पर विचार हुआ है, और कलाओं में भी मुख्यतः नाट्य के प्रसंग में और गौणतः साहित्य के प्रसंग में। किन्तु कलाएं और भी हैं और उन सब में भाव ही अभिव्यंज्य होता है, संगीत में तो यह विशेष उत्कटता के साथ अभिव्यंज्य होता है। किन्तु इन कलाओं में भावाभिव्यक्ति के स्वरूप पर हमारे यहां विचार नहीं हुआ।

मैं यहां संगीत के माध्यम से भावना पर कुछ विचार करना चाहता हूँ, पर इस चिन्तन को नाट्य या साहित्य-चिन्तन के कवल से निकाल कर मैं समझता हूँ कि इससे हमें भावना के जगत् का एक ऐसा परिचय मिलेगा जो नाट्य या साहित्य को माध्यम बनाने से छिपा रह जाता है। पर पहले एक छोटी सी भूमिका।

कह चुका हूँ कि भावना की ओर हमारे दार्शनिकों का ध्यान कम गया है। 'भावना' शब्द को आज हम केवल फीलिंग (अनुभूति) या 'इमोशन (आवेग) शब्दों के पर्यायवाची के रूप में ही समझते हैं। इस अर्थ में यह शब्द हमारे प्रयोग में दर्शन से नहीं नाट्य और साहित्य से आया है। दर्शन की परम्परा में "भावना" शब्द एक तरह से मीमांसकों की बपौती रहा है। मीमांसकों की "भावना" का सम्बन्ध अनुभूति या आवेग से कम, संकल्प से अधिक है। मोटे तौर पर कहें तो मीमांसा के अनुसार "ऐसा करो" इस वाक्य को सुनकर किसी कार्य की ओर प्रवृत्ति का होना भावना है।

न्याय में तो कामना के ही भीतर भावना को भी समो लेने की व्यवस्था है। यों आत्मा के गुणों में एक गुण "भावना" भी है, पर वहां भावना का अर्थ है स्मृति, बल्कि स्मृति को जन्म देने वाला एक गुण विशेष, "संस्कार"। आत्मा का एक और गुण है—इच्छा। अनुभूति के अर्थ में भावना इच्छा में ही आ जाती है। नैयायिकों का ध्यान चेष्टा और क्रिया के प्रति अधिक था और इसी सम्बन्ध में उन्होंने इच्छा का निरूपण किया है, उसे चेष्टा की जननी कहा है। भावना को इच्छा से अलग करने का कोई प्रयास नहीं है : काम और अभिलाषा को ही नहीं राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य सभी को इच्छा के भेदों के रूप में ही देखा गया है।

पतंजलि के योगसूत्रों में, जहां हम चित्तवृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण की अपेक्षा कर सकते हैं, वहां भी भावना का कोई स्पष्ट निरूपण नहीं है। पतञ्जलि ने वृत्तियों के पांच प्रकार गिनाये हैं : प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इनमें भावना कहीं नहीं है। चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहने वाले मनीषी ने इनका कैसा अधूरा निरूपण किया है यह ध्यातव्य है।

ऐसा नहीं है कि योग-सूत्रों में भावना का कोई स्थान नहीं है। कुछ भावनाओं का भिन्न कोटियों में स्थान है, जैसे हर्ष, मुदिता, करुणा और उपेक्षा का भावना के नाम से भी उल्लेख है। पर पतंजलि के लिए भावना विषयक विचार में कोई स्पष्टता नहीं है। भावना पर विचार उनका उद्देश्य ही नहीं था। ऊपर आई पांच चित्तवृत्तियों का उन्होंने लक्षण-निरूपण किया है, पर भावना का कहीं नहीं किया।

भावना की लक्षण-चर्चा दर्शन-परंपरा में नहीं मिलती, मिलती है केवल नाट्य-शास्त्र में। नाट्यशास्त्र में "भावना" शब्द नहीं है, उससे मिलता-जुलता "भाव" शब्द है। भरत ने भावों की चर्चा रस के बाद की है, क्योंकि उनकी दृष्टि में भाव (कुछ भाव) प्रयोग विशेष से रस को प्राप्त होते हैं। हमारे यहां भावों की परवर्ती चर्चा भरत को ही आधार बना कर चली है। नाट्य से बढ़ाकर यह चर्चा साहित्य में और कुछ सीमा तक दूसरी कलाओं में भी ले जाई गई। पर भावों को समझने-समझाने का आधार नाट्य ही

रहा। साहित्य को भी परवर्ती भाव-मीमांसा एक प्रकार के मानसनाट्य के रूप में ही देखती रही : नाट्य साक्षात् प्रेक्षणीय होता है, साहित्य साक्षात् प्रेक्षणीय तो नहीं होता पर वह भी नाट्य की सृष्टि करता है जो मानस द्वारा उसी प्रकार प्रेक्षणीय होता है जैसे आँखों द्वारा नाट्य। यों हमारे यहां भाव-मीमांसा का सूत्र नाट्य से बँधा रहा है। इसलिये भाव को समझने की नाट्य-दृष्टि का कुछ ब्यौरा आवश्यक है।

भरत की भाव-मीमांसा हमें नाट्यशास्त्र के सातवें अध्याय में मिलती है। अध्याय के आरंभ में ही भरत 'भाव' शब्द का दोहरा अर्थ करते हैं। "भाव" शब्द की व्युत्पत्ति "भू" धातु से करते हुए वे कहते हैं कि 'भाव' शब्द को दो तरह से समझा जा सकता है—भवन्तीति भावाः और भावयन्तीति भावाः। जो है, जिसे हम सामने देखते हैं, जिसकी हमें प्रतीति होती है, वह भाव है, पर साथ ही इस माध्यम से जो हमारे मन में आवेग जागता है, विशेष चित्तवृत्ति उपजती है, वह भी भाव है। पर वह सभी कुछ जो हम देखते हैं, प्रतीति करते हैं, हम में ऐसी चित्तवृत्ति नहीं जगाते जिसको हम भाव कह सकें। जो है, जब वह किसी विशेष परिस्थिति में होता है तभी वह भाव को जन्म देता है। ऐसी परिस्थितियों का दायरा बड़ा है पर वे विशेषकर कुछ मानव-परिस्थितियां होती हैं।

भावना के अर्थ में भरत को भाव का दूसरा अर्थ ही अभिप्रेत था। पर भावना को समझने के लिये पहला अर्थ भी उनके लिये कम महत्त्व का नहीं है, क्योंकि दूसरे को पहले से अलग नहीं किया जा सकता। भाव की उत्पत्ति और भाव की पहचान, भाव के पहले अर्थ पर ही निर्भर है। जो है, जो हमारे सामने होता है, वही भाव जगाता है। उसी के आधार पर हम कहते हैं कि यह अमुक भाव है। जो हम अपने सामने पाते हैं, जिससे हमारे मन में भाव जागता है, उस होने वाली परिस्थिति के अर्थ में भाव का भावना से अविनाभाव सम्बन्ध है। एक दूसरे के बिना नहीं होता।

भाव जगाने वाली परिस्थिति जब मंच पर उपस्थित होती है उसे भरत विभाव कहते हैं। नाट्यकार और नाट्य-प्रयोक्ता का उद्देश्य मंच पर विभावों की सृष्टि करना ही होता है। इन विभावों से ही दर्शक के मन में भावना जगायी जाती है। विभाव के लिये भरत कहते हैं : विभावः, कारणं, निमित्तं, हेतुरिति पर्यायाः—विभाव भाव का कारण होता है।

नाटक के विभाव का परिस्थिति के अर्थ में भाव से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, क्योंकि नाटक अनुकरण से बनता है, लोक के अनुकरण से। नाटक में जो दिखाया जाता है उसके विभाव जो हमारे मन में भावना जगाते हैं, उनका आधार "लोक", या यों कहें मनुष्य का जीवन, उसकी परिस्थितियों का संसार ही होता है। मंच पर अनुकरण के माध्यम से लोक की प्रस्तुति ही नाट्य है। भरत कहते हैं कि यह अनुकरण नाट्यधर्मी होता है। तात्पर्य यह है कि नाट्य का अनुकरण लोक को ज्यों का त्यों नहीं प्रस्तुत करता, उसका रूपान्तरण कर देता है। रूपान्तरण की मात्रा में और प्रकार से भेद हो सकता है। अनुकरण लोक के अधिक निकट हो सकता है, या लोक से कुछ दूर हट सकता है। आज की भाषा में हम जिसे "यथार्थवादी" कहते हैं—भरत ने इसे लोकधर्मी कहा है—अनुकरण ऐसा भी हो सकता है। पर अनुकरण कितना ही लोकधर्मी क्यों न हो, नाटक एक अलग ही लोक का निर्माण करता

है, जिसकी अपनी एक सत्ता होती है। नाटक अपना ही एक लोक बनाता है जो कला के माध्यम से निर्मित होता है। इसलिये अपने मर्म में नाट्य मात्र नाट्यधर्मी होता है। उसका लोक भिन्न, स्वतन्त्र, कला-निर्मित नाट्य-स्वरूप हमारे बोध में जगाता रहता है। हम कभी नहीं समझते कि नाटक में जो कुछ हो रहा है, सचमुच हो रहा है। लोक का "भाव" लोक में जो होता है, वह जब नाट्य के रूप में प्रस्तुत होता है तब विभाव कहलाता है।

विभाव भावना को जन्म देने वाली ऐसी परिस्थिति विशेष है जो नाटक की परिधि में उपस्थित होती है और नाट्यधर्मी के रूप में हमारे आगे आती है। विभाव दर्शक के मन में भावना की जिस प्रक्रिया को जगाता है उससे रस की निष्पत्ति होती है। नाट्य-भिन्न वास्तव लोक में परिस्थितियों से भावनायें उपजती हैं पर उनसे रस नहीं निष्पन्न होता। कारण यह है कि लोक में हम द्रष्टा नहीं होते, कर्त्ता और भोक्ता होते हैं— परिस्थितियां हमें अभिभूत करती हैं, हमारे करने और होने का, जीने का, अभिन्न अंग होती हैं, उन्हें हम अपने से अलग रखकर, अपने आप को भूलकर, उनका विशुद्ध प्रतीति के रूप में आस्वाद नहीं कर पाते। नाट्यधर्म उन्हें लोक से हटा कर आस्वाद्य बना देता है, और यों रस जगा देता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि यह द्रष्टत्व या ताटस्थ्य भावनाओं पर विचार के प्रसंग में भी होता है किन्तु वह रस-जनक नहीं होता क्योंकि वहां भावनाएं भाव्य नहीं होतीं बल्कि विषय के रूप में लक्षित होती हैं।

पर विभाव कितने ही नाट्यधर्मी क्यों न हों, उनका मूल लोक ही होता है, क्योंकि नाट्य है तो लोक की अनुकृति ही। भरत ने भावनाओं का लक्षण करते हुए, उनका स्वरूप बताते हुए, विशेष विभावों के साथ उन्हे जोड़ा है। इन विभावों में लोक का आधार बिल्कुल स्पष्ट है। भरत ने कुल उनचास भाव या भावनाओं का लक्षण दिया है।[1]

भरत हरेक भावना को उसके उचित विभाव के साथ जोड़ते हैं। किस भावना का क्या स्वरूप है इसको बताने के लिये किस किस विभाव में वह जन्म लेती है, वे इसका संकेत देते हैं। उनका भावना का लक्षण यों विभाव-मूलक है पर उनका विभाव-वर्णन भी लोकमूलक ही है। उदाहरण लीजिये :

शोक का लक्षण करते हुए भरत कहते हैं : प्रियजन के वियोग से, वैभव के विनाश से, आहत किये जाने पर, बन्धन में आने पर, या ऐसे ही बिभावों से जो भाव उपजता है वही शोक है।

क्रोध का लक्षण देखिये : हमले में घिर जाने पर, सताये जाने पर, डांट-डपट में, कलह, विवाद या दूसरी प्रतिकूल परिस्थिति में जो भाव जागता है वह क्रोध है।

इसी प्रकार गर्व के ये विभाव हैं : ऐश्वर्य, धन, या शक्ति का होना, ऊंचा कुल, रूप, यौवन, विद्या, बल, धनलाभ।

---

1. भरत के इम उनचास भावों में कुछ ऐसे भी हैं जिनको हम भावना के अर्थ में भाव नहीं कह सकते। ये विभाव ही हैं, ये भावना को जन्म दे सकते हैं, भावना नहीं कहला सकते। उन्होंने मरण, निद्रा, सुषुप्ति विबोध, उन्माद, अपस्मार इन्हें भी भावों में गिना है। स्पष्ट है कि ये विभाव ही हो सकते हैं, भाव नहीं। किसी का मरना, सोना, जागना, स्वप्न देखना, पागल हो जाना, स्मृति खो देना, ये भावना जगा सकते हैं, अपने आप में इन्हें भावना नहीं कहा जा सकता।

कुछ भाव ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध परिस्थिति से इतना नहीं जितना प्रकृति, स्वभाव या चरित्र से है, जैसे उत्साह। उत्साह का लक्षण करते हुए भरत कहते हैं–यह ऐसे लोगों में होता है जिनकी प्रकृति उत्तम होती है और जिनका स्वभाव उदात्त होता है। इतना कहने के बाद भरत उत्साह के कुछ विभाव भी गिनाते हैं। पर इन विभावों का सम्बन्ध बाह्य परिस्थिति से नहीं अन्तर की प्रवृत्ति से है। उत्साह के विभाव हैं– विषाद का अभाव, शक्ति, धैर्य, शौर्य। ये सारे विभाव उत्साह के समान ही स्वभाव और शील के "भाव" हैं, गुणधर्म हैं, प्रवृत्तियां हैं। इनको परिस्थिति के अर्थ में भाव या विभाव नहीं कहा जा सकता। फिर भी सच पूछिये तो इनका भी सम्बन्ध परिस्थिति के अर्थ में विभाव से जुड़ता ही है। किन्तु भरत ने यह जोड़ा नहीं हैं। पर वे जोड़ सकते थे, बल्कि उन्हें जोड़ना चाहिये था, क्योंकि ऐसा न करने के कारण वे अपनी परिपाटी से चूक गये हैं। हमारे मन में वे प्रश्न जगा देते हैं कि और भावों का जैसा लक्षण किया वैसा यहां क्यों नहीं किया ? पर हम उनकी कमी पूरी कर सकते हैं। उत्साह के विभाव हम यों दे सकते हैं : किसी काम में अनथक लगन से, हर्ष से जुटे रहना उत्साह है, किसी बात को साधने के प्रयत्न में बाधाओं के आगे नहीं झुकना उत्साह है।

उत्साह के इन विभावों में एक बात साफ दिखती है—शोक, क्रोध या गर्व की तरह ये विभाव उत्साह के कारण या निमित्त नहीं कहला सकते। पर एक बात सोचने की है। कहा गया है कि नाम-रूप ही लोक है। लोक में रूप को नाम से और नाम को रूप से अलग नहीं किया जा सकता। विभाव में भी यही बात है। जहां विभाव को हम किसी भावना का कारण नहीं कह सकते वहां भी उस भावना की पहचान, उसका नाम, उसका लक्षण, गुणधर्म, लोक से जुड़ा रहता है। लोक के सन्दर्भ में ही हम उस भावना को आँक-परख सकते हैं। भरत ने इसीलिए विभाव के दो अर्थ किये हैं, विभाव को भाव का कारण भी बताया है, पर विज्ञान या पहचान भी। कहते हैं : विभावो विज्ञानार्थः। यहां विभाव विज्ञानार्थ है : परिस्थिति-विशेष में जब किसी का चरित विशेष भाव से व्यापृत होता है तब हम उसको उत्साह कहते हैं। यहां भाव को हम किसी परिस्थिति के कार्य के रूप में नहीं देख रहे पर परिस्थिति से उसका अविनाभाव सम्बन्ध फिर भी बना हुआ है। और फिर यह भी है कि ऐसी परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है जिनके कारण उत्साह जाग उठे–जैसे कई बार हारने के बाद अचानक सफलता मिल जाना। इससे ढाढ़स बंधता है, सोया उत्साह जाग जाता है।

मर्म की बात यहां भाव का परिस्थिति से अभिन्न सम्बन्ध है—विज्ञानार्थ हो या कारणार्थ भरत के भाव के पीछे दृष्टि यह है कि भाव को विभाव से अलग नहीं किया जा सकता। भरत ने कुल उनचास ही भाव गिनाये हैं और जैसा हमने देखा, उनमें भी कुछ के लिये 'भाव' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है। हम भावों की संख्या बढ़ा सकते हैं, भरत के बाद की परम्परा ने ऐसा किया भी है, पर भाव को समझने की दृष्टि वही रही जो भरत की है।

भरत की दृष्टि नाटक से बहुत बँधी हुई है। नाटक का काम ही परिस्थिति विशेष को मंच पर उपस्थित करना है। इन्हीं के द्वारा नाटक भाव जगाता है। हम कह सकते हैं

कि भरत की भाव-धारणा में लोक की परिस्थिति की इतनी बड़ी, इतनी प्रधान भूमिका इसलिए है क्योंकि उनके चिन्तन का सूत्र नाटक से इतना अकाट्य रूप से जुड़ा हुआ है। पर क्या काव्य-लोक लोक से मुक्त हो सकता है? क्या साहित्य के लिये यह सूत्र आवश्यक है? नाट्यकला अपने विशेष माध्यम से मंच पर जिस नाट्यलोक की सृष्टि करती है उसे नाट्य-धर्मी कहा गया है। साहित्य भी एक कल्पनालोक की सृष्टि करता है जिसे हम साहित्य-धर्मी–या संस्कृत की शब्दावली का प्रयोग करें तो काव्यधर्मी—कह सकते हैं। कई साहित्य-शास्त्रियों का, आलंकारिकों का, मत है कि साहित्यधर्म नाट्यधर्म के सदृश है, उसे नाट्यधर्म के आधार पर ही आँका-समझा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि साहित्य या काव्य भी अपने विशेष शिल्प के माध्य से जिस काव्यलोक की सृष्टि करता है वह नाट्य-लोक की तरह ही लोक के अनुकरण पर आधारित है।

काव्य को यों नाटक के भीतर ही समो लेने की चेष्टा में काव्य की अपनी अलग महिमा का संकोच होता है, क्योंकि काव्य नाट्य नहीं है। पर मूल प्रश्न फिर भी रह जाता है: क्या नाट्य की तरह काव्य भी लोक-अनुकृति है?–चाहे यह अनुकृति नाट्य जैसी अनु-कृति न भी हो! उसका अपना स्वतंत्र स्वरूप हो! मैं समझता हूं कि एक अर्थ में यह बात सच है।

साहित्य का माध्यम भाषा है। भाषा का जगत् से (लोक से) एक अजीब सा सम्बन्ध होता है। भाषा के माध्यम से हम जगत् का वर्णन करते हैं—इस अर्थ में हम भाषा को जगत् की एक तरह की अनुकृति भी कह सकते हैं। हालांकि इस "अनुकृति" में नाट्य जैसा रूप-सादृश्य, बिंब-प्रतिबिंब-भाव कुछ भी नहीं होता। भाषा धारणाओं के माध्यम से लोक का धारण करती है, उन धारणाओं में लोक आधार होता है। इसी अर्थ में भाषा को "अनुकृति" कह सकते हैं।

पर यह बात अधूरी है। भाषा का धर्म दोहरा है: धारणाओं के माध्यम से भाषा लोक का धारण ही नहीं करती, उसे रूप भी देती है, बुनती-बनाती भी है। थोड़ा भी पैठ कर देखें तो हम देखेंगे कि हमारा लोक, जिसमें हम जीते-जागते हैं, भाषा का ही दिया हुआ लोक है। एक बड़े अर्थ में हमारा लोक हमारे व्यवहार का लोक है, लोक-यात्रा का लोक है। हम समाज में जीते हैं (लोक शब्द का प्रधान अर्थ ही है लोग, समाज)। हमारा यह लोक जड़लोक नहीं है, हमारी चेतना से अनुप्राणित लोक है। चेतना इसे बुनती है। चेतना के धागे इसमें गुँथे हुए हैं। इसलिए इसके स्वरूप को, गुणधर्म को हम अपनी चेतना से अलग रख कर नहीं समझ सकते। हमारा लोक हमारे विधि-विधान के, संकल्प के, बोध के, इच्छा के आदर्श-व्यवस्था-संस्थान के ताने-बाने से बुना होता है। यों अपने स्वरूप में भी हमारी धारणाओं का लोक होता है, उसको अपनी धारणाओं से हम अलग नहीं कर सकते यह बात हमारे व्यवहार के लोक पर—लोक-यात्रा पर—ही नहीं, जड़ लोक पर भी पूरी उतरती है। हमारी समझ का, ज्ञान का, हमारी बुद्धि की पकड़ का जड़लोक भी हमारी धारणाओं के जाल में ही घिरा होता है, उससे बाहर नहीं निकला जा सकता। और हमारी धारणाएं भाषा से घिरी रहती हैं भाषा में ही रूप पाती हैं।

भाषा को जब हम काव्य का माध्यम बनाते हैं, तब बाह्य लोक से अलग एक नये

काव्यलोक की सृष्टि करते हैं। भाषा का यह कल्पनालोक लोक का उपजीवी होता है। कहने को हम कह सकते हैं, अक्सर कहते भी हैं, कि नहीं, ऐसा नहीं होता, काव्यलोक का उपजीवी नहीं है, वह अपना अलग भाव-लोक बनाने में समर्थ है जिसका लोक से कोई सम्बन्ध नहीं है। पर भूलना नहीं चाहिये कि भाषा और लोक का एक-दूसरे के साथ नाड़ी का सम्बन्ध है, अगर लोक भाषा के बिना नहीं है तो भाषा भी लोक के बिना कुछ नहीं : भाषा के पीछे लोक का ही आधार है। इसलिये भाषा का बनाया हुआ कोई भी लोक वास्तव लोक के बंधन को नहीं तोड़ सकता। काव्यलोक लोक की "अनुकृति" न भी हो तो भी भाषा का सूत्र उसे लोक से बाँधे रखता है। इसीलिये काव्य का भावनालोक लोक की पकड़ से नहीं छूट पाता। और लोक में भाव का परिस्थिति से कुछ वैसा ही सम्बन्ध होता है जैसा भरत ने आंका है, चाहे हम मान भी लें कि लोक की इन परिस्थितियों के स्वरूप-स्वभाव को प्राण देने में भाषा का भी योगदान होता है।

इस प्रकार नाट्य और काव्य में जो भाव जागते हैं उनमें लोक का बंधन-सूत्र बना रहता है। लोक से ही वहां विभाव बनते हैं—लोक की ही परिस्थितियां नाट्यधर्मी या काव्य-धर्मी के रूप में रूपान्तरित होकर बनती और भाव को उपस्थित करती हैं।

सच पूछिये तो लोक का हम पर इतना साम्राज्य है कि हमें लग सकता है कि हमारी भावनाएँ लोक से अपरिहार्य रूप से बँधी हैं, उनका अपना कोई स्वतंत्र लोक नहीं है : लोक ही उन्हें रूप देता है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। ऐसी भी कुछ कलाएँ हैं जिनमें लोक का बंधन शिथिल हो जाता है, जो नाट्य या काव्य की तरह लोक से बंधी हुई नहीं हैं, इन्हीं में संगीत है। संगीत भी भाव जगाता है, पर ऐसे भाव जगाता है जिनको नाट्य या काव्य की तरह लोक से जोड़ना कठिन है। उन भावों को हम नाम नहीं दे पाते क्योंकि लोक से उनका सूत्र नहीं जोड़ पाते। आप कह सकते हैं कि जो भी हो संगीत का आधार भी आख़िर लोक ही है। संगीत का प्राण स्वर है और संगीत जिन स्वरों का प्रयोग करता है वे भी तो लोक-जात ही हैं। लोक से ही संगीत उन्हें लेता है, संगीत उन्हें बनाता नहीं है, उनका प्रयोग करता है। संगीत को वे लोक से ही उपलब्ध होते हैं।

किन्तु द्रष्टव्य है कि लोक से प्राप्त ये स्वर अरूप-अनाम सामग्री मात्र होते हैं जिसका उपयोग संगीत भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्र रूप से करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार भाषा ध्वनि का उपयोग शब्द-रचना के लिए करती है। नाट्य में कथानक के वस्तुत: घटितमूलक नहीं होने पर भी उसका वस्तुतः घटितवत् होना और वस्तुतः घटितवत् के तर्क से निर्दिष्ट होना आवश्यक होता है। यही उपन्यास और कथात्मक कविता में आवश्यक होता है। शुद्ध गीत-काव्य में भी, जिसमें भावनाओं की अभिव्यक्ति ही प्रमुख होती है, भावुक कवि और भावित कोई अन्य व्यक्ति रहता है, और इन सब से ऊपर रहती है भाषा, जिस के वाच्य का और वाच्यों के संस्थान का तर्क गीतकार के लिए पूर्व प्रदत्त होते हैं और वह उनका उपयोग मनमाना नहीं कर सकता। जैसे हम स्वर्ण के चाहें तो कुंडल बना सकते हैं और चाहें तो बाहुबन्द और चाहें हार, किन्तु कुंडल को गले में और हार को कान में नहीं पहन सकते। संगीत में ध्वनि के और कविता में भाषा के उपयोग में यही भेद है।

किन्तु यहां संगीत का लोक के साथ काव्य या नाट्य जैसा सम्बन्ध जोड़ने के लिए

एक बात और कही जा सकती है। हम देखते हैं कि लोक में भी भावना की अभिव्यक्ति के साथ स्वरों के उतार-चढ़ाव का सम्बन्ध होता है। कराहने के अपने स्वर होते हैं, उमंग की किलकारी के अपने; यों ही क्रोध के, शांति के, हर भावना की अभिव्यक्ति के, अपने विशिष्ट स्वर होते हैं। इनको भरत ने 'काकु' कहा है। काकु का हमारे लोक की परिस्थितयों से सम्बन्ध स्पष्ट है।

और संगीत क्या है? क्या यह भी काकु का ही परिष्कृत रूप है और इस तरह उसका भी लोक से सम्बन्ध स्पष्ट है?

उत्तर में मैं कहना चाहूँगा कि ठीक है, संगीत में काकु का प्रयोग होता है और उस काकु में हम लोक को कभी-कभी पहचान भी लेते हैं। और यों संगीत के कुछ रूपों का, विशेषकर शब्दों के साथ गाये गए कुछ गीतों का, सम्बन्ध लोक के साथ जुड़ता दिखाई देता है। पर संगीत के इन रूपों में संगीत की अपनी समृद्धि, अपना स्वतंत्र स्वरूप नहीं झलकता। संगीत अपने स्वरूप में तभी भास्वर होता है जब काकु से अलग हो जाता है या काकु उस में अपना लोक-सम्बन्ध छोड़कर डूब जाता है—जैसे राग-संगीत में; वहाँ स्वर-विन्यास अपने अलग जगत् की सृष्टि करता है, वह लोक की याद नहीं दिलाता।

संगीत का लोक से कुछ ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा लोक से गणित का है। संगीत लोक से नाद और स्वर लेता है जो लोक में स्वतःसिद्ध हैं। गणित की संख्याएँ लोक में स्वतःसिद्ध तो नहीं हैं पर हम कह सकते हैं कि वे इस बात पर निर्भर करती हैं कि लोक में ही नानात्व विद्यमान है, वह हमारे अनुभवगत-भेद को ही पकड़ कर चलता है और यही भेद या नानात्व संख्याओं का आधार बनता है। किन्तु यदि हम इस प्रकार संख्या का आधार लोक को मान भी लें (यद्यपि यह नाद और लोक के जैसा कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध नहीं होता) तो भी इस बात से कैसे इन्कार किया जा सकेगा कि गणित का संख्या-लोक हमारे अनुभव के लोक से भिन्न है, उसकी अपनी सत्ता है, अपनी गति है।

गणित में हमारी बुद्धि अपने को लोक से स्वतंत्र पाती है। इसी प्रकार संगीत में हमारी भावना अपने को लोक से स्वतंत्र पाती है।

हमने ऊपर की चर्चा में कहा कि लोक जब नाट्य में अनुकृत होता है तब शिल्प के माध्यम से लोक के भाव विभावों में बदल जाते हैं। विभाव भावना जगाते हैं, पर वे इसे इस रूप में जगाते हैं कि हम उसका आस्वाद लेते हुए भी उसके द्रष्टा बने रहें, परिस्थितियों के बहाव से निकल कर उसकी प्रतीति, उसका संवदेन कर सकें। काव्य में भी भाषा लोक को विभाव के रूप में उपस्थित करती है। यह लोक चाहे मानवमूलक हो और चाहे जड़ प्रकृतिमूलक, कविता में वह विभाव बन कर ही आता है। कवि-कर्म लोक को—हमारे ज्ञान के, प्रयोजन के लोक को—हमारी संवेदना की आंख के आगे ला खड़ा करता है, अपना एक भाव-लोक बनाते हुए हमें उसका आस्वादन कराता है।

पर नाट्य हो या काव्य, इनके विभावों का सूत्र लोक से अविच्छिन्न भाव से जुड़ा रहता है। संगीत में यह बन्धन नहीं रहता। हम कह सकते हैं कि संगीत में स्वर ही अपने विभिन्न विन्यासों के साथ विभावों के रूप में हमारे सामने आते हैं और यह प्रस्तुति इस प्रकार होती है कि इसमें ये स्वर ही, लोक से निरपेक्षतया, भावनाओं का उद्रेक करते हैं

और ये ही उन्हें आस्वाद्य बनाते हैं। पर संगीत के इन विभावों का नाट्य या काव्य के विभावों से मौलिक अन्तर है। नाट्य या काव्य में विभाव बनाने के लिए एक विशेष चेष्टा करनी पड़ती है जो कि संगीत में नहीं करनी होती। नाट्य या काव्य में लोक के भाव का शिल्प-कौशल से लोकान्तरण करना पड़ता है। संगीत का विभाव इस प्रकार चेष्टा-साध्य नहीं हैं, यह एक सहज प्रकार से विभाव होता है। वहां लोकान्तरण की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि लोक से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं होता : स्वर किसी भी अर्थ में लोक की अनुकृति नहीं होते।

स्वरों के लोक की अनुकृति नहीं होने के कारण संगीत भावना का एक सर्वथा स्वतंत्र लोक बना सकता है। नाट्य या साहित्य में लोक का संस्कार उपस्थित रहता है—बल्कि वह अनिवार्यतः अपेक्षित होता है। वहां विभाव का लोक से गहरा सम्बन्ध होता है। पर संगीत में ऐसे किसी संस्कार की कोई अपेक्षा नहीं होती। बल्कि वहां लोक-संस्कार की उपस्थिति संगीत की अपनी प्रतीति में बाधक हो सकती है।

संगीत की महिमा यही है कि यह लोक से स्वतंत्र एक भावना-लोक का द्वार हमारे लिए खोल देता है—बल्कि इसे यों कहना चाहिए कि संगीत यह एक नया तथ्य प्रकट करता है कि भावनाएं अनिवार्यतः लोक-सापेक्ष नहीं होतीं। लोक हमारी भावनाओं को अपने रूपों से बांध देता है, उनके प्रवाह को सरणियों में डाल देता है; संगीत इस बन्धन को दूर कर देता है और भावनाओं को अपने सहज स्वरूप में ले आता है जहां वे लोक से मुक्त होकर अपने सहज स्वरूप में व्यक्त होती हैं। ऐसा नहीं है कि संगीत के अपने बन्धन नहीं हैं। संगीत भी अपनी तरह के विभाव बनाता है। विभाव-रूपेण उसके भी अपने गुण-धर्म होते हैं, अपने आकार होते हैं। लोक के बन्धन से विलग होकर भी भावना का सूत्र संगीत के इन विभावों से बँधा ही रहता है। विभावों के बिना भावना का अन्तर्निहित वैभव व्यक्त नहीं हो सकता। अव्यक्त भावनाएं उभर कर हमारी संवेदना के दृष्टि-पथ पर आयें इसके लिए उन्हें कोई माध्यम तो चाहिए ही। इन माध्यमों में एक संगीत है। भावनाओं के स्वतंत्र जगत् का हम दूसरी भी लोक-मुक्त कलाओं के माध्यम से द्वार खोल सकते हैं। यह भी प्रश्न उठा सकते हैं कि ये लोक-मुक्त कलाएं—जैस नृत्त, वास्तु—कला एक ही भावना-लोक का द्वार खोलती हैं या इनके अपने अलग भावना-लोक होते हैं? किन्तु यहां मैं इस प्रश्न में नहीं जाना चाहता। यहां मैं इतना ही कहने की धृष्टता करूंगा कि शायद जिस निर्बाधता के साथ संगीत अपने भावना-लोक में हमें ले जाता है वैसा दूसरी कलाएं नहीं कर पातीं। किन्तु मेरे ऐसा कहने का एक कारण यह भी हो सकता है कि आज हमारे देश में नृत्त या वास्तु की अपेक्षा संगीत में अधिक प्राण हैं। संगीत में ही नये नये विभाव बनते हैं। और फिर यह भी है कि मेरी अपनी संवेदना संगीत की ओर अधिक उन्मुख है।

यहां अन्त में हम संगीत तथा संगीत और भावना के बीच सम्बन्ध के विषय में कुछ शब्द कहना चाहेंगे। जैसाकि हमने ऊपर देखा, संगीत भावना की अभिव्यक्ति में लोक से अधिकाधिक निरपेक्ष होता है। सुसन लैंगर ने[1] इसी बात को ध्यान में रखते हुए

1. सुसन लैंगर–फीलिंग एंड फोर्म, न्यूयार्क, १९५३.

संगीत का भावना से वैसा ही सम्बन्ध कहा है जैसा तर्क का बोध से होता है। इसमें यद्यपि एक गहरी सूझ है किन्तु इसमें इनके बीच मौलिक भेद की उपेक्षा भी है। इनमें अनुरूपता यह है कि जिस प्रकार तर्क बोध को उसके शुद्ध आकार में निरूपित करता है उसी प्रकार संगीत भावना को उसके शुद्ध आकार में निरूपित करता है। यहां कहा जा सकता है कि तर्क में निरूपित आकार जबकि बोध का अपना आकार होता है संगीत इस आकार को कल्पित करता है। इस के दो प्रमाण हैं। एक तो यह कि तर्क जब कि सब संस्कृतियों में सामान्य है, संगीत प्रत्येक परंपरा में उसका विशिष्ट होता है, यहां तक कि एक परंपरा का व्यक्ति दूसरी परंपरा के संगीत का आस्वादन तक करने में असमर्थ रहता है। दूसरे, संगीत की एक ही परंपरा में एक ही भावना को व्यक्त करने के लिए जबकि अनेक स्वर-रचनाएं होती हैं, तर्क की सब रचनाओं का आधारभूत आकार एक ही रहता है। उदाहरण के लिए न्याय के तर्क में निगमन का आधारभूत आकार एक ही है।

किन्तु वास्तव में तर्क की सार्वभौमता की बात जितनी प्रकट है उतनी वास्तविक नहीं है। उदाहरण के लिए न्याय के निगमन का आकार अरस्तु के निगमन के आकार से कुछ भिन्न है; इसके अतिरिक्त, आधुनिक पाश्चात्य तार्किकों ने अरस्तु के निगमन को अपर्याप्त दिखाया है और व्यापकतर नियम का आविष्कार किया है, जो स्वभावतः अरस्तु के नियम से भिन्न आकार का है। इसके अतिरिक्त, तार्किक आकार और तर्क-व्यवहार अथवा युक्ति में अन्तर होता है और वही अन्तर किसी गीत की स्वर-रचना और उसके गायन में होता है। संगीत के आस्वादन और उससे परिचय-अपरिचय का प्रसंग इस गायन में ही उपस्थित होता है, इसकी स्वर-रचना के आकार में नहीं। तो भी, जिस प्रकार प्रत्येक गीत की स्वर-रचना भिन्न होती है उस प्रकार प्रत्येक युक्ति की आकारिक रचना भिन्न नहीं होती, यह एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। किन्तु इसका अर्थ यही है कि विचार जबकि एक ही आधारभूत आकार में व्यापारित होता है भावना इस प्रकार नहीं होती, यद्यपि उस की संगीतात्मक अभिव्यक्ति आकारात्मक अवश्य होती है और ये आकार कुछ आधारभूत आकारों में अन्तर्भाव्य भी होते हैं।

किन्तु यह द्रष्टव्य है कि संगीत भावनाओं की अभिव्यक्ति की अनेक में से केवल एक विधा है और अन्य विधाओं, जैसे काव्य, चित्र, मूर्ति आदि में इस प्रकार शुद्ध आकार नहीं होने। किन्तु तब भी, और यह एक महत्त्वपूर्ण बात है, कि प्रत्येक अभिव्यक्ति संरचनात्मक होती है और किसी भी अभिव्यक्ति में भावना अपने असंरचित, अनगढ़, रूप में नहीं होती। और अपने असंरचित रूप में भावना सहज और सार्वभौम रूप से अवगम्य होती है, अपनी संरचनात्मक अभिव्यक्तियों के समान उसका अवगमन परिचय-सापेक्ष नहीं होता, जबकि विचार के अवगमन की प्रक्रिया इससे ठीक उलट होती है।

इतिहास विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

उन्मीलन : वर्ष ३, अंक १–२
जनवरी-जुलाई, १९८७

3

समाज-दर्शन : भूत और भाव्य×

यशदेव शल्य

प्रोफेसर दयाकृष्ण की गणना समकालीन भारतीय दर्शन-क्षेत्र में प्रथम कोटि के बहुत थोड़े से विचारकों में की जाती है, किन्तु वास्तव में वे उनमें भी विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्हें यह विशिष्टता उनके दो गुण देते हैं। एक है नितान्त अपारंपरिकता, सर्जनात्मकता और सहज मूलगामिता। अपनी इस प्रकृति के कारण दयाजी नित्य नवीन और आधारभूत प्रश्न उठा पाते हैं। यह वास्तव में उनके व्यक्तित्व का ही गुण है, केवल दार्शनिक विचार का नहीं, जो उन्हें निराग्रही, सरल और दंभ-रहित बनाता है। उनकी दूसरी विशेषता दृष्टि की व्यापकता और अन्यान्य विषयों को समझने और उन पर विचार करने सामर्थ्य है। उन्होंने दर्शन के परम्परागत प्रश्नों पर विचार करने के अतिरिक्त समाज, अर्थ-व्यवस्था, राजनीति, प्रशासन, कला, भारत-विद्या आदि अनेक विषयों पर विचार किया है। विभिन्न विषयों पर विचार की सामर्थ्य वैसी बात नहीं है जैसी एक मकान में अनेक कमरे होना या एक डिब्बे में अनेक रंगों की गोलियां होना। यह सामर्थ्य दृष्टि की व्यापकता में प्रतिफलित होती है और विषयों के ऐसे आयाम और स्तर प्रकट करती है जो इस सामर्थ्य से रहित दृष्टि के लिए अगम्य होते हैं। अथवा कहें, ज्ञान में प्रत्येक विषय दूसरे को आलोकित करता है और प्रत्येक अन्य विषय से आने वाला आलोक प्रस्तुतविषय में नये आयामों को प्रकट करता है। दृष्टि की व्यापकता का यही अर्थ है। जिस दृष्टि में ऐसा नहीं होता वह मात्र संग्रहात्मक-विवरणात्मक होती है। स्पष्टतः दयाजी इस दूसरे प्रकार के लोगों में नहीं हैं, बल्कि प्रथम प्रकार के लोगों में भी अग्रणी हैं।

★ यह निबन्ध भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् द्वारा "प्रोफेसर दयाकृष्ण का दर्शन" पर परिषद् के लखनऊ केन्द्र में मार्च 4–7 1987 को आयोजित गोष्ठी में पढ़ा गया था।

1. सोनयल फिलोसोफी : पाथ्ध एण्ड फ्यचर। 'फ्यूचर' का अर्थ तो 'भविष्यत् या भावी होता है किन्तु इस पुस्तक में वास्तव में समाज दर्शन की भावी स्थित का अनुमान नहीं दिया गया है बल्कि समाजविषयक आदर्श-कल्पना के स्वरूप पर विचार हैं।

मुझे दयाजी के बहुत से लेख और पुस्तकें पढ़ने का और बहुत बार उनके साथ परिचर्चाओं में भाग लेने का अवसर मिला है। मैं अधिकांशतः अपने को उनसे असहमत पाता रहा हूँ, कभी-कभी तो झुंझलाहट भी होती है कि "ये भी क्या बात करते हैं!" किन्तु वास्तव में यही दयाजी को प्रिय भी है—दूसरे को छेड़ना, उकसाना और कुछ अलग सोचने को मजबूर करना। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक-'**दि नेचर ऑफ फिलोसोफी**' में लिखा था कि 'दर्शन का कार्य नये प्रश्न उठाना है,' और यही उनका मत आज भी है। किन्तु मेरी यह असहमति उनकी मूल दृष्टि से उतनी नहीं होती जितनी उस दृष्टि की व्याख्या के कुछ सूत्रों से होती है, यद्यपि कभी-कभी मूल दृष्टि से भी होती है। यहां आलोच्य पुस्तक तथा समाजदर्शन विषयक उनकी दूसरी पुस्तक '**कंसिडरेशंस् टवाड्‌र्स थे ओर ऑफ चेंज**' में व्यक्त दयाजी की मूल दृष्टि से प्रायः मेरा मतैक्य है, उस दृष्टि की व्याख्या से भी मेरा प्रायः मतैक्य ही है, किन्तु उसके कुछ सूत्रों से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ, विशेषतः यहां विवेच्य पुस्तक की व्याख्या के कुछ सूत्रों से। यहां मैं मुख्य रूप से उन स्थलों की ही चर्चा करूंगा, दयाजी को कबीर के एक दोहे — 'निन्दक नियरे राखिये' का स्मरण कराते हुए।

दयाजी ने अपनी इन पुस्तकों में समाज के स्वरूप-विषयक निम्न प्रश्न उठाये हैं—क्या यह मनुष्य के एतद्विषयक विचार या अवधारण-प्रकार से पूर्णतः स्वतंत्र सत्व है या कि यह इससे बहुत गहराई से प्रभावित होने वाला सत्व है? या कि यह उस विचार का ही फल होता है? दूसरे शब्दों में, क्या इसका कोई अपना तत्त्व भी है या कि यह उसी प्रकार तत्त्व से रहित है जिस प्रकार अस्तित्ववादियों के अनुसार मानव-व्यक्ति तत्त्व से रहित है और उसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के असंख्य चयनों से घटित या रचित होता है जिस प्रकार मानव-व्यक्ति अपने चयन से, अपने वरण घटित या रचित होता है? इन प्रश्नों का दयाजी का उत्तर है कि समाज व्यक्तियों के आत्मचेतन चयनों का फल होता है और परिणामतः यह एक अवस्तु या असत्त्व है। "चयन का फल" होने से यह 'प्रकृति' से विपरीत हो जाता है, क्योंकि 'प्रकृति' का उनके अनुसार अर्थ ही है ऐसा सत्त्व जो मनुष्य के विचार और अवधारणों के लिए प्रदत्त है, उनसे प्रभावित या रचित होने वाला नहीं। विचार-सृष्ट होने से यह वही रूप लेता है जैसी इसकी कल्पना होती है, जैसा अवधारण होता है। दयाजी इस विचार को आगे बढ़ाते हुए प्रश्न करते हैं, 'उन क्षेत्रों का जिनमें ज्ञान ज्ञेय के स्वरूप को प्रभावित करता है, क्या किया जा सकता है? इन क्षेत्रों में अवधारण-क्रिया अनिवार्यतः मूल्यात्मक होती है, यह वस्तु की घटक होती है, हम कहना चाहेंगे यह वस्तु को उसके प्रतिमान के अनुसार देखती है और उसके अनुसार ही घटित करती है। दूसरे शब्दों में कहें, इसका प्रतिमान ही इसका सत्त्व होता है, प्रस्तुत-रूपता नहीं।' सोश्यल फिलोसोफी[2] पुस्तक के प्रथम व्याख्यान के अन्त में दयाजी व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का प्रश्न उठाते हैं और कहते हैं कि "यह प्रश्न कि समाज क्या है इस प्रश्न से निकट रूप से सम्बन्धित है

---

2. आगे इस पुस्तक की चर्चा नाम के उल्लेख के बिना होगी, 'कंसिडरेशंस्...............पुस्तक की चर्चा उसके नाम के उल्लेख के साथ होगी।

कि व्यक्ति क्या है ?" और तब वे कहते हैं कि "सब सर्जनों का स्रोत व्यक्ति ही होता है; समाज केवल व्यक्ति के इस कर्म के क्रियान्वयन के लिए साधन बनता है ।" उनके अनुसार, प्रायः ही समाजवैज्ञानिक समाज को मुख्य और व्यक्ति तथा उसके मूल्यान्वेषण अथवा सृजन-कर्म को उसमें साधन-भूत तथा गौण मानते है, जो युक्त नहीं है । तब वे आगे कहते हैं कि समाज के अवधारण के ये दो सर्वथा विपरीत रूप हैं, और क्योंकि हम ऐसे सत्व हैं कि हमारे विचार हमारा सृजन करते हैं इसलिए इन दो अवधारण-रूपों में चुनाव मूल्यात्मक चुनाव ही हो जाता है । ऐसी अवस्था में इसमें ज्ञानात्मक अन्वेषण के लिए यही अवकाश रह जाता है कि विभिन्न अवधारणों के मूल्यात्मक परिणामों को स्पष्ट करके संभाव्य उपलब्धियों और विकृतियों को प्रकट किया जाय ।

यहां छः प्रश्न विचारणीय हैं : प्रथम यह कि क्या समाज इस प्रकार का सत्व है कि वह ज्ञान-विषय नहीं होकर आदर्श-कल्पना या मूल्यात्मक आक्षिप्त मात्र हो ? दूसरे, यदि यह आक्षिप्त मात्र है तो इसका आक्षेपक कौन है ? व्यक्ति या कि स्वयं समाज ही ? तीसरे क्या प्रकृति अपनी अवाधारणा से स्वतंत्र सत्व है ? चतुर्थ, यदि वह अवधारण-सापेक्ष होने पर भी मूल्यात्मक आक्षिप्त नहीं है तो क्या समाज भी मूल्य-निरपेक्ष अवधारणात्मक सत्व नहीं हो सकता ? पांचवें, यदि समाज को मूल्यात्मक आक्षिप्त ही मान लिया जाय तो भी क्या वह उसी प्रकार का सत्व है जिस प्रकार का सत्व मानव व्यक्ति है ? छठे, समाज को व्यक्ति के आत्म-चरितार्थन का साधन कहने का क्या अर्थ है ? क्या साधन के रूप में वह व्यक्ति से स्वतंत्र सत्व है या कि व्यक्ति-समवाय का फलन मात्र है ? दयाजी ने इन व्याख्यानों में इनमें से किसी भी प्रश्न पर स्पष्ट विचार नहीं किया है, किन्तु अपनी दूसरी पुस्तक 'कंसिडरेशंस् ·······' में इनमें से पहले तीन प्रश्नों पर विचार किया है, यद्यपि वहां भी पर्याप्त और व्यवस्थित विचार नहीं किया गया है । उदाहरणतः कंसिडरेशंस् में वे कहते हैं :

"तब समाज इस अर्थ में शिल्प के समान भी है कि यह अनिवार्यतः (मनुष्य की) अस्तित्व-रक्षा की समस्याओं से सम्बन्धित है जो समस्याएँ अन्य सब प्रश्नों से प्रथम होती हैं, और यह महान कला-कृतियों के समान भी है, जिनका सम्बन्ध मूल्यों और आदर्शों से होता है जिनके बिना ये निस्सत्व होती हैं । किन्तु यह इन दोनों से इस बात में भिन्न भी है कि यह एक पूर्ण कृति नहीं होता जिसे देश में सब दृष्टि-बिन्दुओं से देखा जा सकता है, अथवा जिसे इनमें रुचि रखने वाला कोई भी व्यक्ति इसकी पूर्णता में जान सकता है । संस्कृतियों और सभ्यताओं के इतिहासकार इन्हें इस रूप में (इनकी पूर्णता में) भी देख सकते हैं, विशेष रूप से तब जब ये अतीत और मृत हो चुकी होती हैं । किन्तु ये (समाज) स्वयं अपना अन्त नहीं चाहते थे, ये अमर जीवन के आकांक्षी थे ।······· (समाज) अपने ढंग का एक अनूठा विषय है, और यद्यपि इसमें इन सब विषयों के कुछ गुण हैं किन्तु यह उनसे कुछ मूलभूत गुणों में भिन्न भी है । प्रकृति के कारण-कार्यात्मक सन्दर्भ में प्रतिष्ठित, अपने सदस्यों की जीवन-रक्षा और संवृद्धि के प्रति चिन्तित, केबल अपने स्वप्नों में मुदित और केवल अपने आदर्श के अनुसरण में गर्वित यह उन निरन्तर अग्रसर सन्ततियों की आत्मचेतन कृति होता है जो इससे एक-साथ प्रेम भी करती हैं और इससे भिन्न भी होती हैं । "पृ. 98–99 (कोष्ठकगत हमारे द्वारा) ।

दयाजी द्वारा समाज की यह परिभाषा और निरूपण सम्भवतः उनका स्पष्टतम और सर्वाधिक प्रतिनिधि निरूपण है। सम्भवतः इसे इस अर्थ में पूर्ण भी कहा जा सकता है कि वे इस विषय पर इससे बाहर प्रायः और कुछ भी नहीं कहते। किन्तु यह निरूपण कितना अयुक्त और आत्म-प्रसंगत है यह देखना भी सतर्क दर्शन के लिए कठिन नहीं है: इस उद्धरण के आरम्भ में दयाजी समाज को शिल्प-कृति और कला-कृति से इस आधार पर भिन्न कहते हैं कि यह इन दो प्रकार की कृतियों के समान आद्यन्तयुक्त नहीं होता, इस आधार पर नहीं कि एक व्यक्ति-कृत होती है और दूसरी व्यक्ति-कृत नहीं होती। किन्तु इसके तुरन्त बाद वे अतीत सभ्यताओं और समाजों को आद्यन्त-युक्त पाते हैं और तब कला-कृति आदि से भिन्नता के लिए दूसरा आधार खोजते हैं कि एक जीवित समाज स्वयं अपने को अन्तवन्त के रूप में नहीं देखता। किन्तु कलाकृति भी अपने आदि, मध्य और अन्त को कहां देखती है? स्वयं को देखना या स्वयं का अवधारण करना आत्मचेतन विषयी का गुण है, कृति का नहीं। कहा जा सकता है कि आत्मचेतन भी अपना अवधारण स्वयं करता है और इस कारण वह स्वयं भी अपनी कृति होता है। हमने इस मत का प्रतिपादन अन्यत्र[3] किया है और तब व्यक्ति और संस्कृति दोनों को आत्मकृत विषयी कहा है। किन्तु दयाजी ऐसा नहीं कहते। वे समाज को अंशतः कला-विषय के रूप में और अंशतः उससे भिन्न विषय के रूप में ही देखते हैं। किन्तु इसी अनुच्छेद में थोड़ा आगे चलकर वे पुनः समाज को विषय कहते हुए उसके सम्बन्ध में ऐसे बात करने लगते हैं जैसे मानो वह विषयी हो— "अपने सदस्यों की जीवन-रक्षा के लिए चिन्तित" आदि। किन्तु उन्होंने समाज को कहीं विषयी नहीं कहा है, परिणामतः उनके उपर्युक्त वाक्य काव्यात्मक उत्प्रेक्षा मात्र प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से दयाजी **'सोश्यल फिलोसोफी'** पुस्तक में अधिक आत्म-संगत हैं क्योंकि इसमें वे समाज को मानव-विषयी के आत्मसर्जन के अनुरूप आत्मसृष्ट कहते हैं। किन्तु सही बात यह है कि वे इनमें यही साम्य देखते हैं कि इन दोनों का सत्त्व तद्विषयक विचार से प्रभावित होता है। इसीसे वे साथ ही समाज को मानव-व्यक्तियों के विचारों, अवधारणाओं या चयनों का संयुक्त फल भी कहते हैं। अब, अनेक व्यक्तियों की अवधारणाओं और चयनों का संयुक्त फल आत्मसृष्ट नहीं हो सकता। सच पूछा जाय तो एक व्यक्ति के सब कर्म-फल भी आत्मचेतन नहीं होते, तब उन्हें आत्मसृष्ट कहने का तो प्रश्न ही कहां रहता है, और यदि कुछ अनेक व्यक्तियों के चयन का फल हो तब तो फिर बात ही क्या है! उदाहरण के लिए कौन-सी पुस्तकें मेरे पुस्तकालय में हों, अथवा कौन सा कपड़ा मेरे तन पर हो यह आत्मचेतन चयन है किन्तु मेरा पुस्तकालय या कमीज़ आत्मचेतन नहीं हैं। और यदि थोड़ा गहराई में जाएँ तब तो हम पायेंगे कि हमारे बहुत से चयन भी 'वास्तव में हमारे चयन' नहीं होते - हम बड़े प्रयत्न से कोई कपड़ा चुनकर लाते हैं किन्तु घर में आकर अनुभव करते हैं कि यह तो

3. (क) द्रष्टव्य यशदेव शल्य, संस्कृति : मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या, अ. 2 (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1969)
(ख) सत्ता-विषयक अन्वीक्षा, अ. 11 और 12, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली, 1987.

ठीक नहीं है, इसका रंग पता नहीं क्यों वहां मुझे जँच गया ! और यदि यह चयन वस्तु का नहीं होकर दूसरे व्यक्ति का हो—मित्र का, पति या पत्नी का — तब तो बहुत बार जो फल होता है उसे सब जानते ही हैं : हम पाते हैं, यह "वह व्यक्ति" नहीं है "जो मैंने देखा था," या "जो मैंने समझा था।" और वास्तव में होता यह है कि हमने अपनी चाह, भावना या एषणा को ही नहीं समझा होता। और सब से प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध—परिवार, पड़ौस, देश और काल—ही हमारे चयन नही होते। तब समाज को "आत्मचेतन चयनों का फल कहना" भोले भाव की पराकाष्ठा ही कही जा सकती है। दूसरे 'आत्मचेतन चयन का फल' और 'आत्म-सर्जक' एक ही बात नहीं है, क्योंकि मेरा पुस्तकालय जबकि आत्मचेतन चयन का फल होता है, यह आत्म-सर्जक नहीं होता, आत्म-सर्जक केवल मानव-व्यक्ति होता है, संभवतः संस्कृति को भी कहा जा सकता है, किन्तु पुस्तकालय को नहीं, समाज को तो और भी नहीं। किन्तु व्यक्ति भी किस अर्थ में आत्म-सृष्ट होता है, दयाजी ने कहीं स्पष्ट नहीं किया — मनोविश्लेषकों के अनुसार तो हमारे व्यक्तित्व का भी अधिकांश अचेतन, अवचेतन और अर्धचेतन मानस से घटित है। तीसरे, 'अवधारणाओं का फल' और 'चयन का फल' एक ही बात नहीं है। क्योंकि जैसाकि हम आगे देखेंगे, प्रकृति को भी अवधारणाओं का फल तो कहा जा सकता है किन्तु चयनों का फल नहीं कहा जा सकता।

समाज को 'प्रकृति-भिन्न' कहने से दयाजी का एक तथा मुख्य प्रयोजन इसे ज्ञान-विषय से भिन्न मूल्यान्वेष्य कहना भी है। किन्तु यह विचारणीय है कि क्या केवल प्रकृति ही ज्ञान-विषय होती है ? और क्या मूल्यान्वेष्य साथ ही ज्ञान-विषय भी नहीं होता ? द्रष्टव्य है कि स्वयं दयाजी ने ही अपने प्रथम व्याख्यान के अन्त में समाजविज्ञान का कार्य समाज-विषयक "विभिन्न मूल्यात्मक अवधारणाओं के निहित आपादनों (इम्प्लीकेशंस्) को प्रकट करना कहा है और इस कर्म को ज्ञानात्मक (कॉग्नीटिव) कहा है। इतना ही नहीं, अपने अन्तिम व्याख्यान में उन्होंने इस कर्म की ज्ञानात्मकता और मूल्य-निरपेक्षता पर बहुत बल दिया है। किन्तु निश्चय ही इस ज्ञान के विषय को वे प्राकृतिक नहीं कहेंगे। और पुनः, अपने अन्तिम व्याख्यान के अन्त में उन्होंने आत्मचेतना को स्वयं आत्म का विषयकरण कहा है, इस विषयकृत आत्म को भी वे प्राकृतिक नहीं कहेंगे, यह स्पष्ट है। जैसाकि हमने अन्यत्र[4] देखा है, वास्तव में यही विषय आद्य मूल्य और अन्य सब मूल्यों का आधार है। जहां तक समाज को आत्मचेतन कर्म की कृति कहने का सम्बन्ध है, इसकी अयुक्तता हमने ऊपर इसे चयन का फल कहने की अयुक्तता के प्रसंग में दिखायी ही है। किन्तु समाज वास्तव में एक और बहुत गहरे अर्थ में मनुष्य के आत्मचेतन कर्म से कृत नहीं है : जैसाकि हमने अन्यत्र[5] दिखाया है, यह मानव-चेतना की अतिक्रामी संरचना में अंतर्निहित है।

दयाजी के समाजविषयक प्रतिपादनों में सबसे आधारभूत प्रतिपादन उसका अप्राकृ-

---

4. सत्ताविषयक अन्वीक्षा, अ. 11 तथा ज्ञान और सत्, अ. 11, राजकमल प्रकाशन,1967.

5. सत्ता-विषयक अन्वीक्षा. अ. 12.

तिक होना है, क्योंकि प्रकृति उनके अनुसार विचार या अवधारणा से स्वतंत्र सत्व है जबकि समाज विचार-कृत, अवधारणानुसारी और भाव्य सत्व है। किन्तु वे प्रकृति के स्वरूप पर कहीं भी गहराई से विचार नहीं करते। प्रकृति के सम्बन्ध में वे केवल इतना ही कहते हैं कि उसके सम्बन्ध में "हम यह कभी नहीं कहते कि वह कैसी होनी चाहिए, वह जैसी है उसे हम वैसा ही स्वीकार करते हैं।" किन्तु यह उतना सही नहीं है जितना प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है। सर्वप्रथम यह द्रष्टव्य है कि वे नेचर (प्रकृति) शब्द को बड़े 'एन' अक्षर के साथ लिखते हैं जिसका अर्थ है कि वे इस बात पर बल देना चाहते हैं कि इस शब्द को एक सत्व के अर्थ में ही समझा जाय, विभिन्न वस्तुओं या स्थितियों के संघात के अर्थ में नहीं। इसी प्रकार दयाजी ने 'मैन' शब्द भी बड़े 'एम' अक्षर के साथ लिखा है और यह कहीं स्पष्ट नहीं किया है कि इससे उनका क्या अर्थ है—व्यक्ति, जाति, चेतना का स्तर-विशेष, अथवा कुछ और? यदि पृष्ठ 78 पर विट्गिंस्टाइन के आप्त किन्तु दुर्भाग्यपूर्ण वचन "फैमिली रिज़ेंलेंस' (पारिवारिक अनुरूपता) के उनके द्वारा समर्थन का ध्यान रखा जाय तो मनुष्य व्यक्ति से अधिक कुछ हो भी नहीं सकता, और तब बड़े 'एम' अक्षर का प्रयोग निरर्थक हो जाता है। किन्तु विट्गिंस्टाइन के लिए तो 'प्रकृति' शब्द भी उतना ही वाच्य-रहित होगा जितना 'मनुष्य' शब्द, किन्तु इस प्रसंग को यहां छोड़ते हुए हम प्रकृति की अवधारणा-निरपेक्षता के प्रश्न पर ही संक्षेप में विचार करेंगे।

दयाजी ने प्रकृति की विचार-सापेक्षता या अवधारणा-सापेक्षता की सम्भावना के निराकरण के सन्दर्भ में एक स्थान पर परमाणु-भौतिकी का उल्लेख किया है। अन्यत्र वे अनिर्मित भौतिक वस्तुओं—मिट्टी, जल, वायु, आदि का और निर्मित भौतिक वस्तुओं—मेज़, कुर्सी आदि का प्रकृति के रूप में उल्लेख करते हैं, किन्तु क्या ये सब 'प्रकृति' कही जा सकती हैं? ये सब अधिक से अधिक प्राकृतिक तो कही जा सकती हैं (यद्यपि निर्मित वस्तुओं को, उनके निर्मित पक्ष की उपेक्षा किये बिना, प्राकृतिक भी कैसे कहा जा सकता है यह बात हमें समझ में नहीं आयी) किन्तु ये प्रकृति कैसे कही जा सकती हैं? अब जहां तक प्राकृतिक का सम्बन्ध है, मानसिक घटनाएँ उतनी ही प्राकृतिक हैं जितनी भौतिक घटनाएँ, और मानसिक ही वह क्षेत्र है जिसे दयाजी विचार से निर्धार्य के रूप में देख रहे हैं। जहां तक भौतिक वस्तुओं का सम्बन्ध है, दिङ्नाग और कांट ने इन वस्तुओं को भी क्रमशः अतिक्रामी वासनाओं और वर्गणाओं से रचित दिखाया है। दयाजी इसकी उपेक्षा करते हैं, जिसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि ये अतिक्रामी होने से आत्मचेतन, स्वेच्छया नियुक्त विचार की विषय नहीं हैं। किन्तु इस विचार की विषयभूत प्रकृति भी नितान्त निरपेक्ष सत्व नहीं है जिसका प्रमाण विभिन्न संस्कृतियों में, और एक ही संस्कृति के इतिहास के विभिन्न चरणों में इसकी अवधारणाओं का विभिन्न होना है।[6] किन्तु यहां दयाजी कह सकते हैं कि सब अवधारणाओं में प्रकृति 'यथातथ' के रूप में, 'जैसा है वैसा ही' के

---

6. प्रकृति की अवधारण-सापेक्षता के लिए हमारी पुस्तक 'संस्कृति : मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या' के 'पौराणिकता' और 'प्राकृतिक विज्ञान' अध्याय द्रष्टव्य।

रूप में, ही देखी गई है, 'जैसा होना चाहिए वैसा' के रूप में नहीं। किन्तु ऐसा भी नहीं है, यांत्रिकी का संपूर्ण इतिहास प्रकृति को 'जैसा होना चाहिए' के रूप में ग्रहण का इतिहास ही है। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि प्रकृति यांत्रिकी के लिए उपादान है और उपादान को उसके स्वरूप में निरपेक्षतः समझ कर ही उसका उपयोग करना होता है। किन्तु तब इस दृष्टि से प्रकृति और समाज में मौलिक अन्तर नहीं रहता—समाज को हम अवश्य ही 'जैसा होना चाहिए' इस अपेक्षा से ही देखते हैं किन्तु इस अपेक्षा की पूरी संरचना इस प्रकार है : "यह जैसा है इसे वैसा नहीं होना चाहिए।" अवश्य यांत्रिकी और कला में अन्तर है किन्तु अवधारण-सापेक्षता और विचार-निर्धार्यता की दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं है। यदि हम स्वयं कलाओं में भौतिक के उपयोग की ओर भी ध्यान दें—मूर्ति-कला में पत्थर-मिट्टी, चित्रकला में रंग और संगीत में ध्वनि, और दूसरी ओर क्रमशः हाथ, कूंची और कंठ आदि—तो स्थिति और भी बदल जाती है।

प्राकृतिक का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष कारणात्मकता है। अब, कारणात्मकता सिद्धान्त के रूप में विचार-निर्धार्यता की और व्यवहार में प्रस्तुत और विशिष्ट के अप्रस्तुत और सामान्य में विलय की वाचक होती है। उदाहरणतः लॉन में पड़ा यह पत्थर, आंख में छलक आया यह आंसू, मन में सहसा उभर आयी यह उद्विग्नता 'क्यों' प्रश्न उत्पन्न होते ही अपनी प्रस्तुत स्पष्टता और विशिष्टता खोकर विचार-ग्राह्य और सामान्य घटनाओं की श्रृंखला में एक अविशिष्ट कड़ी हो जाते हैं, और इन सबसे ऊपर है प्राकृतिक वस्तुओं की अधिष्ठातृ देवी व्यक्ति-नाम-वाच्य प्रकृति का सत्त्व जो केवल शुद्ध विचार-ग्राह्य और विचार-रचित होता है। यहां दयाजी कह सकते हैं कि हमारा प्रकृति-विषयक विचार-भेद प्रकृति के स्वरूप को भिन्न नहीं करता, विचारक के स्वरूप को भिन्न करता है, वह विचारक को वैज्ञानिक, पौराणिक या कवि बनाता है, प्रकृति तो वही रहती है। किन्तु ऐसा कहना प्रकृति को केवल विचार के और अधिक सूक्ष्म स्तर का विषय बनाना होगा, विचार-निरपेक्ष वस्तु बनाना नहीं।

इस प्रकार दयाजी के समाज के स्वरूप-विषयक दृष्टि के विवेचन में बहुत से सूत्र उतने युक्त नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि उनकी दृष्टि में कोई युक्तता है ही नहीं, उनका मूल बोध वास्तव में सही है, कि समाज प्राकृतिक विज्ञानों की विधि का विषय नहीं हो सकता, 'सामाजिक यांत्रिकी' जैसे पद भ्रामक और अहितकर हैं, क्योंकि समाज आदर्शानुसरण और मूल्यान्वेषण का क्षेत्र है, किन्तु वे यह सब नहीं कहकर समाज और प्रकृति की विपरीतता पर ही बल देते हैं। वे यह भूल ही जाते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक की प्रकृति एक विशेष पूर्वाग्रहमूलक प्रकृति ही है, अन्यथा प्राचीनों द्वारा प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु देवताधिष्ठित भी देखी गई है, वनस्पतियां और पशु-पक्षी मनुष्य के ही क्रम में देखे गए हैं।

समाज को मूल्यात्मक सत्व देखने के समान ही उनकी यह दृष्टि भी मार्मिक है कि 'मनुष्य और समाज का स्वरूप इस बात में बहुत कुछ समान है कि दोनों आत्मसर्जनात्मक हैं।' किन्तु वे यह नहीं बताते कि ऐसा कैसे है? इतना ही नहीं, मनुष्य से, विशेषतः बड़े आद्यक्षर द्वारा नामित मनुष्य से, उनका क्या अभिप्राय है यह भी वे स्पष्ट नहीं करते। यह 'मनुष्य' पद 'समाज' को अपने अर्थ में कैसे सम्मिलित नहीं करता? इसी प्रकार, क्या

'समाज' और 'संस्कृति' पद समानार्थक हैं ? यदि नहीं, जैसाकि स्पष्ट है कि वे नहीं हैं, तो क्या 'आत्मसर्जक' विशेषण 'समाज' के बजाय 'संस्कृति' का होना उचित नहीं है ?

× × ×

दूसरे व्याख्यान का शीर्षक है "दो अवांछित परिणाम" (टू प्रिडिकामेंट्स)। दो अवांछित परिणाम दो अतिवादों के हैं। एक अतिवाद है समाज-केन्द्रकता (सोश्योसेंट्रिकनेस) का और दूसरा आत्म-केन्द्रकता का। 'आत्म' से यहां अभिप्राय वैयक्ति 'स्व' से नहीं होकर 'आत्मा' से है। दयाजी के अनुसार प्रथम अतिवाद पाश्चात्य समाज की विशेषता है और दूसरा अतिवाद भारतीय समाज की। प्रथम अतिवाद का मूल यह मान्यता है कि 'व्यक्ति जो भी कुछ होता है वह समाज की बदौलत, समाज के कारण ही होता है, यहां तक कि उसका मनुष्य होना तक समाज के कारण ही सम्भव होता है। दूसरे शब्दों में, वह पूरी तरह समाज से निर्धारित और निर्मित होता है। इसलिए, इस मान्यता के अनुसार, व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपना सब कुछ समाज को अर्पित कर दे और समाज के शुभाशुभ के लिए अपने को उत्तरदायी माने। दयाजी के अनुसार, इस मान्यता में स्पष्टतः अन्तर्विरोध है—यदि व्यक्ति पूर्णतः समाज से निर्धारित, उसका कार्य, है तो उसके विचार, भावनाएँ और संकल्प स्वतंत्र नहीं हो सकते, वह समाज-रूपी सागर का एक कण मात्र रह जाता है। अब, यदि यह बात स्वीकार की जाये तो व्यक्ति को उत्तरदायी कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि 'उत्तरदायित्व' अनिर्धारितता को, अकारितता को, पूर्वकल्पित करता है।' पश्चिम के इस अतिवादी चिन्तन के उदाहरणों के रूप में दयाजी "अपोलोजी" संवाद के सुकरात की, ईसाइयों की आद्य पाप (उरिजनल सिन) की, और दूसरों के पापों के लिए भी उत्तरदायी होने की अवधारणाओं का, तथा मार्क्सवाद की व्यक्ति के एक-साथ इतिहास की उपज और भविष्य के लिए उत्तरदायी होने की अवधारणा का उल्लेख करते हैं। इस अतिवाद और अन्तर्विरोध की चर्चा दयाजी ने 'कंसिडरेशंस्' पुस्तक में भी की है और वहां सामाजिक उत्तरदायित्व का निरूपण इस प्रकार किया है कि हम जो कुछ भी करते हैं, बल्कि कहें हमारे जाने-अनजाने हमसे जो कुछ भी घटित होता है, उसके सामाजिक परिणाम होते हैं, जो देश और काल की असीमता के कारण असीम होते हैं। इसे वे एक 'मिथ' कहते हैं जिसको उत्पन्न करने के लिए वे समाज-शास्त्रियों को दोषी ठहराते हैं। इसी क्रम में वे मनुष्य द्वारा आत्मोद्धार के लिए प्रयत्न करने के उसके कर्त्तव्य और भगवत्कृपा-विषयक कैथोलिक ईसाई-सिद्धान्त का उल्लेख भी करते हैं। यह भी उनके अनुसार उसी प्रकार की एक अन्तर्विरोध-पूर्ण स्थिति है।

दयाजी का इस अतिवाद का और इसके अन्तर्विरोध का निरूपण, हमारे विचार में, बहुत सतही है और उसी स्तर पर वह ठीक भी लगता है, किन्तु थोड़ा गहराई से देखने पर ये तथाकथित अतिवाद और अन्तर्विरोध वास्तविक नहीं रहते। इसके लिए हम यहां तीनों उदाहरणों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

सुकरात का उदाहरण दयाजी ने समाज-केन्द्रकतापरक अतिवाद के लिए दिया है। सुकरात को एथेंस के युवकों को बहकाने के लिए न्यायालय ने मृत्युदंड दिया गया था। सुकरात

इस निर्णय को असत्य पर आधारित मानता था और न्यायपालकों को भ्रांत मानता था। ऐसी अवस्था में उसे, दयाजी के अनुसार, जेल से भागने का अवसर मिलने पर भाग जाना चाहिए था। किन्तु वह नहीं भागा उस कानून की रक्षा के लिए जिसे वह पूर्ण रूप से अस्वीकार करता था। यह दयाजी के अनुसार स्पष्टतः सामाजिकता को परमता का स्थान देना है। किन्तु यह सही नहीं है। सुकरात के निर्णय के वास्तविक तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए हम महात्मा बुद्ध का उदाहरण देंगे जो दयाजी ने आत्मकेन्द्रकता के अतिवाद के रूप में दिये हैं: बुद्ध राज्य, पत्नी और बच्चे को छोड़कर आत्म-साधना के लिए चले गए थे। इस पर न केवल उन्हें किसी ने अनुचित नहीं कहा बल्कि उन्हें उच्चतम सम्मान दिया। किन्तु मान लें कि वे बिना दोष के जेल में डाल दिये जाते और इस कारण वे जेल से भाग जाते, तो क्या उन्हें कोई इस आत्मकेन्द्रित समाज में भी आदर देता? हमारा विचार है कि वह नहीं देता, क्योंकि इससे किसी मूल्य की रक्षा नहीं होती। अब, यह दूसरा प्रसंग प्रथम से मौलिक रूप से भिन्न है—पहला प्रसंग उच्चतर मूल्य के त्याग का है और दूसरा मूल्य के लिए आत्मबलिदान करने या उसे मूल्य स्वीकार नहीं करने के बीच चुनाव का। कोई कह सकता है कि यदि कानून या उसके निर्णायक अधिकारी भ्रांत हैं तो उस निर्णय को स्वीकार करने में क्या औचित्य है? इसका उत्तर होगा कि मूल्य उस भ्रांति का निराकरण करने में है, अपने शरीर की रक्षा में नहीं। इसका उत्तर हो सकता है कि इस भ्रांति का निराकरण जेल से भाग करऔर तब लोगों को समझा कर भी किया जा सकता था, ऐसा करने से आत्मरक्षा के मूल्य का भी अनुसरण होता और भ्रांति का निराकरण भी। इसका उत्तर होगा कि सुकरात के आत्मबलिदान ने सुकरात को नैतिकता की उच्चतम भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया, भागने का कर्म उसे निम्नतम भूमि पर नहीं तो लोकसाधारण भूमि पर तो ला ही देता—केवल दूसरों की दृष्टि में ही नहीं उसके अपने तत्त्व में भी, और इससे इतिहास दिव्य कर्म के एक महानतम उदाहरण से वंचित रह जाता। प्लेटो के अपोलोजी, क्रीटो और फीडो संवादों को पढ़कर कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि सुकरात के लिए सर्वोपरि आत्मा नहीं थी। ("मित्र के प्रति वफादारी" को यदि कोई अन्य-केन्द्रकता के रूप में देखता है तो वह मैत्री के तत्त्व को समझने की असमर्थता ही प्रकट करता है।) यहां गान्धीजी का उदाहरण उपयोगी होगा—गान्धीजी भारत के लिए विदेशी सरकार द्वारा बनाए गए कानून के प्रति कोई प्रतिबद्धता अनुभव नहीं करते थे। इसी प्रकार जयप्रकाश नारायण और सुभाषचन्द्र बोस भी नहीं करते थे। इसीसे तीनों इन कानूनों को तोड़ते थे। अब जयप्रकाश नारायण और सुभाष बोस जेल तोड़कर भाग गए जो इस कानून के प्रति अप्रतिबद्धता से संगत बात थी, किन्तु गांधीजी नहीं भागे, क्योंकि गांधीजी जेल से भाग कर नहीं, जेल में रहकर उस कानून की अनुचितता अधिक गहराई से प्रकट कर रहे थे और दूसरी ओर सुकरात की इस दृष्टि के अनुसार देख रहे थे कि "अनुचित का प्रतिदान अनुचित से नहीं करना चाहिए।" (क्रीटो) स्पष्टतः यह सब समाज-केन्द्रकता नहीं है।

अब ईसाइयों की आद्य पाप की अवधारणा के सम्बन्ध में: इस अवधारणा का कोई भी सम्बन्ध समाज से नहीं है, यह मनुष्य होने मात्र से है। और यह अवधारणा इससे कहीं अधिक गहरी बौद्धों के द्वादश निदान चक्र और अनादि वासना के सिद्धान्तों में

और वेदान्त की अनादि अविद्या की अवधारणा में मिलती है। जहां तक प्रयत्न और भगवत्कृपा की अवधारणाओं में अन्तर्विरोध का सम्बन्ध है, यह अन्तर्विरोध किस प्रकार उन अन्तर्विरोधों में से एक है जो मानव-परिस्थिति में ही अन्तर्निहित हैं इस पर यहां हम विचार नहीं कर केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि यह अवधारणा उतनी ही वैष्णव धर्म में भी मिलती है।

इस प्रकार समाज-केन्द्रकता और व्यक्ति की निर्धारितता एवं उत्तरदायित्व में अन्तर्विरोध के उदाहरणों में केवल मार्क्सवाद ही शेष बचता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि न तो समाज-केन्द्रकता और उपर्युक्त अन्तर्विरोध में कोई अनिवार्य संबंध है और न यह अन्तर्विरोध ही उतना वास्तविक है जितना प्रकट है। उदाहरण के लिए प्लेटो का रिपब्लिक अत्यधिक समाज-केन्द्रक है किन्तु उसमें व्यक्ति को समाज-निर्धारित नहीं माना गया है। इसी प्रकार 'लोक-संग्रह', 'महाजनो येन गताः सः पंथः' और 'ऋण-त्रय' आदि की भारतीय अवधारणाएं मूल्य-व्यवस्था में समाज के महत्त्वपूर्ण स्थान की द्योतक हैं। यद्यपि यह सही है कि ये अवधारणाएँ समाज-निर्धारितता-परक नहीं है किन्तु उसी प्रकार सुकरात और प्लेटो की भी नहीं हैं। जहां तक निर्धारितता और उत्तरदायित्व में अन्तर्विरोध का प्रश्न है यह अंतर्विरोध मानवीय परिस्थिति का आकलन करने के बहुत से और प्रयत्नों में भी देखा जा सकता है जैसाकि हमने ऊपर भी कहा। ऊपर मानव-प्रयत्न और भगवत्कृपा का उदाहरण हम देख ही चुके हैं, इसी प्रकार अनादि अविद्या और मुक्ति की अन्वेष्यता में, कर्मफल के अटूट चक्र और कर्म के प्रति उत्तारदायित्व में भी यह विरोध देखा जा सकता है। किन्तु ये सब अन्तर्विरोध वास्तविक नहीं है। उदाहरण के लिए समाज-निर्धारितता और समाज के प्रति उत्तरदायित्व को ही लें। सर्वप्रथम, समाज के प्रति उत्तरदायित्व का सम्बन्ध समाज के प्रति ऋण से है, समाज से निर्धारितता से नहीं। प्रतिपत्ति यह है कि 'व्यक्ति जो कुछ है वह समाज की बदौलत है, तब उसका भी कर्त्तव्य है कि वह उसे कुछ दे'। ठीक यही बोध यज्ञ की अवधारणा में भी है। प्रतिपत्ति यह नहीं है कि 'क्योंकि समाज व्यक्ति का कारण और व्यक्ति समाज का कार्य है इसलिए व्यक्ति समाज के प्रति उत्तरदायी है।' अब जहां तक इस तथ्य का संबंध है कि यदि व्यक्ति समाज से निर्धारित है तो वह स्वतंत्र कर्त्ता कैसे हो सकता है, अथवा मार्क्सवाद की पदावली में कहें तो, यदि मेरे विचार वर्ग-निर्धारित हैं तो वे सही और गलत कैसे हो सकते हैं? और यदि वे स्वयं में सही और गलत नहीं हैं तो फिर मेरे लिए कुछ कर्त्तव्य कैसे रह जाता है? तो इसका उत्तर होगा कि समाज से निर्धारण में युक्त चिन्तन-और उचित-अनुचित के विवेक की सामर्थ्य भी सम्मिलित है, यह निर्धारण न भौतिक प्रकार का है और न पाशव प्रकार का, यह मानवीय प्रकार का है। उदाहरणतः हम भाषा समाज से सीखते हैं, उसके बिना कोई व्यक्ति भाषा-ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, भाषा के बिना वह विचार में समर्थ नहीं हो सकता। किन्तु न तो भाषा की समाजात्मकता व्यक्ति द्वारा उसके प्रयोग की स्वतंत्रता की निषेधक होती है, न विचार की भाषा-मूलकता (और समाजमूलकता भी) व्यक्ति के स्वतंत्र चिन्तन में बाधक होती है, इससे वह उचित-अनुचित के विवेक में भी समर्थ होता है। इस प्रकार वास्तव में सामाजिक निर्धारण व्यक्ति-स्वातंत्र्य की तर्कतः चाहे न भी सही किन्तु तथ्यतः अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। वास्तव में निर्धारण और

स्वातंत्र्य में अन्तर्विरोध देखने में भ्रांति का आधार 'मानव' और 'समाज' पदों का परस्पर विरोधी पदों के रूप में प्रयोग है, जो कि दयाजी ने किया है और प्रायः सभी करते हैं। किन्तु यह सही नहीं है। 'मानव' पद 'व्यक्ति' और 'समाज' दोनों पदों का समावेश करता है और इससे दोनों का समान रूप से विशेषण भी हो सकता है, और दूसरे, 'व्यक्ति' और 'समाज' पद भी सब प्रसंगों में परस्पर विरुद्ध नहीं हैं, कुछ प्रसंगों में ये सहयोगी हैं, कुछ में पूरक, और कुछ में विरुद्ध भी हैं। किन्तु इन्हें अधिकांशतः विरुद्धों के रूप में ही देखा गया है, क्योंकि तार्किक विचार का स्वभाव है कि वह परस्पर व्यावर्तक युगलों के द्वारा ही उपचरित होता है। किन्तु ऊपर हमने भाषा का ही उदाहरण दिया, यह व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति की भी माध्यम होती है और व्यक्तियों में परस्पर संप्रेषण की भी, किन्तु अपने सत्त्व में यह निर्वैयक्तिकतया सामाजिक होती है। भाषा का केवल एक ही पद व्यक्तिवाचक है और वह है 'मैं'। किन्तु यह भी सर्वनाम है और केवल तभी निजवाचक होता है जब वक्ता स्वयं उद्देश्य होता है। किन्तु इस प्रयोग में यह निजता भी नितान्त निजी नहीं होती, यह 'अन्य के प्रति' निजता होती है, दूसरी ओर स्वयं भाषा में यह 'सर्वनाम' मात्र है जिसके लिए सब निजताएं समान हैं।

किन्तु 'व्यक्ति' और 'समाज' पद कुछ स्थितियों में विरुद्ध भी होते हैं। उदाहरणतः 'प्रजातंत्रवाद' मुख्यतः व्यक्ति-केन्द्रक व्यवस्था है और समाजवाद समाजकेन्द्रक। रूसो और जोह्न रॉल्स[7] की समाज की अवधारणाएं, जो प्रजातंत्रवादी अवधारणाएं हैं, समाज को व्यक्ति-निर्णयमूलक के रूप में कल्पित करती हैं। प्रजातंत्रवाद और समाजवाद के विपरीत सामन्तवाद व्यक्ति-निरपेक्ष सामाजिकता है और इसीलिए वह समाज-केन्द्रक व्यवस्था नहीं है। समाज-केन्द्रक व्यवस्था या तो प्लेटो के रिपब्लिक में है अथवा मार्क्स-एंजल्स के ग्रन्थों में, किन्तु ये दोनों आदर्श कल्पनाएं हैं, पाश्चात्य सभ्यता की वास्तविक स्थिति नहीं।

किन्तु दयाजी कह सकते हैं कि उन्होंने 'समाज-केन्द्रक' पद का प्रयोग केवल उस अवधारणा के लिए किया है जिसमें अर्थ का केन्द्र 'अन्य' या 'हम' होते हैं, 'मैं' नहीं। उदाहरण के लिए ईसा ने अन्यों को पाप के फल से मुक्त करने के लिए आत्मबलिदान किया, दूसरी ओर बुद्ध ने आत्मज्ञान के लिए अन्यों के दुःख की उपेक्षा की। दूसरे, अन्यों के पाप की अपने बलिदान द्वारा शांति की भारत में अवधारणा ही नहीं है। यह सही है, किन्तु क्या यह ईसाई अवधारणा वास्तव में पाश्चात्य सभ्यता के व्यवहार, अथवा उसके विचार को भी, प्रतिबिंबित करती है ? उदाहरण के लिए, किसी पाश्चात्य दार्शनिक ने अपनी नीति-मीमांसा में इस अवधारणा को आधार नहीं बनाया, दूसरी ओर, यह अवधारणा भारत में कहीं भी नहीं मिलती है, यह बात भी नहीं है। उदाहरण के लिए शिव के गरल-पान में इस अवधारणा का संकेत है, इसी प्रकार, अपने ऊपर आपत्ति लेकर पुत्र, पत्नी आदि पर आने वाले दैव कष्टों का निवारण करना, परिवार के किसी व्यक्ति के कर्म-जन्य कष्टों के निवारण के लिए किसी अन्य का तपस्या करना या जप करना, ये विधान यहां प्रायः सर्वत्र

7. जोह्न रॉल्स – ए थेओरी आंफ जस्टिस, ऑक्सफर्ड यूनीवर्सिटी, प्रेस, 1972.

मिलते हैं। किन्तु ये हमारे समाज या दर्शन में प्रतिबिम्बित नहीं मिलते। जहां तक मार्क्स-वाद या अन्य समाज-चिन्तनों में व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तरदायी मानने का प्रश्न है, वह सर्वथा दूसरी बात है और वह विचार हमारे यहां तीन ऋणों के रूप में प्रतिष्ठित मिलता है।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति को दयाजी ने समाज-केन्द्रक के विपरीत आत्म-केन्द्रक कहा है। इस केन्द्रकता का एक मुख्य लक्षण उनके अनुसार 'अन्य के प्रति चिन्ता' का अधिकतम अवमूल्यन है। यदि पाश्चात्य सभ्यता को "अन्य की उपस्थिति के प्रति चिन्ता" से लक्षित करें और "चिन्ता" का अर्थ "महत्व की चेतना" करें तो सम्भवतः यह पाश्चात्य संस्कृति का अधिक सही निरूपण होगा और यह भारतीय संस्कृति से उसकी भिन्नता को भी अधिक सार्थक रूप से व्यक्त करेगा। किन्तु यहां हम पाद-टिप्पणी के रूप में यह और जोड़ना चाहेंगे कि यह लक्षण या वैशिष्ट्य ऐसा ही है जैसा मनुष्य की शरीर-व्यवस्था में अन्य सब प्राणियों से भिन्न हँसने की योग्यता का प्रावधान होने से मनुष्य को उससे परिभाषित करना।

भारतीय संस्कृति का 'आत्मकेन्द्रक' संस्कृति के रूप में चित्रण अंशतः उपयुक्त है, किन्तु केवल अंशतः ही, क्योंकि यज्ञ की अवधारणा को भी इसी संस्कृति ने जन्म दिया था जिसमें 'अन्य की चिन्ता' आधारभूत है और 'अन्य' केवल मानवीय ही नहीं बल्कि सार्वभौम है। उत्तरवैदिक काल में 'अहं' और 'त्वं' के तात्त्विक अभेद की दृष्टि का आविर्भाव हुआ, किन्तु यह दृष्टि आरंभ में मुख्यतः बौद्धों में प्रतिष्ठित हुई, ब्राह्मणों में नहीं। उदाहरणतः संस्कृत काव्यों, पुराणों और स्मृतियों में यह दृष्टि प्रायः अनुपस्थित मिलती है। दयाजी अवतार और बोधि-सत्त्व की अवधारणाओं को अपवाद कहते हैं जबकि वास्तव में ये अव-धारणाएँ काव्य, पुराण और सामान्य जनजीवन की प्राण थीं। यहां अवान्तरतः यह भी द्रष्टव्य है कि अर्थशास्त्र और कामसूत्र इसी काल के जीवन्त ब्राह्मण-मानस की उपज थे 'अति-क्रामी आत्मा की अवधारणा के फलस्वरूप क्षय-ग्रस्त' मानस की नहीं, जैसा दयाजी कहते हैं।

तो भी आत्मकेन्द्रकता भारतीय संस्कृति को महत्त्वपूर्ण रूप से विशेषित करती है, इसमें सन्देह नहीं। केवल इसी ने बौद्ध और वेदांतिक अद्वैत-दृष्टि और सांख्यीय अतिक्रामी प्रेक्षकत्व और विवेक-दृष्टि पायी और शंकर के बाद यह दृष्टि भारतीय समाज की प्रमुखतम दृष्टि बन गई। दयाजी द्वारा इस दृष्टि का निरूपण प्रायः प्रायः सही है, किन्तु इससे सम्ब-न्धित एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष से हम सहमत नहीं हैं। वह यह कि "अन्य के प्रति चिन्ता (अन्य-परकता) नीति का मूल है और परिणामतः भारतीय संस्कृति नैतिक नहीं होकर अतिनैतिक है।" यदि ऐसा है तब "आत्मार्थे सर्वंत्यजेत्" में कैसा आदेश है? दयाजी का उत्तर है कि यह नीति के अतिक्रमण का आदेश है। मान लें, किन्तु तब 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' में कैसा आदेश है? दयाजी कम से कम इसे नैतिक आदेश ही मानेंगे। तब यह आदेश अन्तिम आदेश के लिए आवश्यक है या नहीं? वास्तव में वेदांत-ग्रन्थों में अधिकारी की चर्चा में नीति के अतिक्रमण में नीति की अनिवार्य पूर्वापेक्षा सर्वत्र स्वीकृत है। यदि ऐसा है तब भारतीय संस्कृति

में नीति की अवहेलना नहीं होकर नीतिपूर्वक उससे उच्चतर भूमि पर आरोहण की दृष्टि है।

किन्तु वास्तव में नीति की परिभाषा 'पर-हित-चिन्ता' नहीं की जा सकती, यह परिभाषा 'आत्म-सिद्धि' करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यहां प्लेटो के क्रीटो संवाद का स्मरण स्थाने होगा जिसमें सुकरात जेल से भागने के परामर्श को अस्वीकार करते हुए कानून तोड़ने से जिनको हानि होगी उनमें आत्मा की गणना सबसे पहले करता है, उसके बाद मित्र और देश का उल्लेख करता है। इसके अतिरिक्त, सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत नैतिक आदर्श ब्रह्मचर्य, सत्य और निष्कामता को लिया जा सकता है। इनमें पहले और तीसरे में स्पष्टतः अन्य की अपेक्षा नहीं है और दूसरे में केवल प्रकटतः ही अपेक्षा है, वस्तुतः नहीं, क्योंकि सत्य का तत्त्व सही कहने में नहीं है बल्कि स्वयं में सत्यपरायण होने में है। दयाजी के नीति-विषयक मत के पक्ष में अधिक से अधिक यह कहा सकता है कि यह लौकिक जीवन की साधना है अति-लौकिक जीवन की नहीं, और इसमें पर-हित भी सम्मिलित होता है, जबकि अतिलौकिक की भारतीय अवधारणा में इतर केवल अनात्म है। किन्तु नीति की लौकिकता विषयक इस अवधारणा में भी पर-चिन्ता स्वयं में नहीं बल्कि श्रेयस् की सिद्धि के रूप में ही गृहीत होती है।

इस प्रसंग में एक और उदाहरण उन अस्तित्ववादियों का लेना स्थाने होगा जिनके अनुसार अन्य की विद्यमानता उद्विग्नताजनक और भयावह है। नैतिकता का आधार पर-निष्ठा होने पर अस्तित्ववाद का यह सिद्धान्त अनैतिक हो जाएगा। किन्तु यह संप्रदाय नीति का तत्त्व पर-निष्ठा में नहीं देखकर आत्मप्रतिबद्धता और आत्मप्रामाणिकता में देखता है। इसी प्रकार कांट नीति का तत्त्व संकल्प की शिवता या श्रेयस्ता में देखता है जो आत्मा की अपने अत्यन्तातिक्रामी स्वरूप (ट्रांसेडेंटनेस) में प्रतिष्ठा और इस प्रकार व्यवहार (फिनॉमिनेलिटी) से मुक्ति है। यद्यपि अस्तित्ववादी सार्त्र की बैड फेथ की अवधारणा कांट की अवधारणा के ठीक विपरीत जैसी है किन्तु पर-निष्ठता की दृष्टि से ये दोनों समान हैं: इनमें नीति का मूल पर की विद्यमानता नहीं है। यहां कहा जा सकता है कि कांट के नीति के सभी सूत्र पर-चिन्तामूलक हैं। किन्तु यह सही नहीं है, वे सूत्र वास्तव में नैतिक बोध की निरहंकारता और अतिक्रामी आत्मतत्त्व में आत्म-पर के अभेद के प्रतिपादक कहे जा सकते हैं, इतर के इतरत्व की अनिवार्यता के नहीं। कांट के नीति-विषयक सभी सूत्र संस्कृत के नीति-विषयक सुभाषित-संग्रहों में कहीं भी देखे जा सकते हैं।

यह सही है कि भारत के दार्शनिकों ने नीति पर विचार नहीं किया, इसे वे केवल स्मृतिकारों का विषय ही मानते थे। किन्तु इसका अर्थ है कि नैतिक आचरण क्या है-क्या नहीं इसे वे सामाजिक परम्परा द्वारा निर्धार्य मानते थे और नीति का तत्त्व आत्म-साधना में मानते थे। निश्चय ही इस दृष्टि से बहुत अहित भी हुआ, यहां नैतिक आचरण सृजनात्मकता से रहित, जड़ और परमार्थ से विच्छिन्न व्यवहार का विषय हो गया जिससे परमार्थ और व्यवहार में ऐसे अन्तर्विरोध का निर्वाह भी सम्भव हो सका कि आत्म-पर-भेद को अविद्यामूलक उपाधि मानने वाले वेदांती भी व्यवहार में वर्ण-जाति-भेद को अलंघ्य मानकर चल सके। किन्तु इसका वास्तविक कारण आत्मकेन्द्रकता नहीं थी बल्कि सांस्कृतिक वार्धक्य

था। अन्यथा व्यवहार और परमार्थ का और इस प्रकार नैतिक बोध और नैतिक आचरण के तत्त्वों का आधारभूत विच्छेद कांट में भी मिलता है, और वह नीतिमीमांसा के सन्दर्भ में ही। वह भेद किसी भी अर्थ में वेदांत से कम और सांख्य से भिन्न नहीं है। किन्तु यह भेद-बोध कभी अनीति के लिए छूट के रूप में नहीं देखा गया। दूसरी ओर कांट के समान ही भारत में भी नैतिक आचारण के मानदंड के रूप में 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' को स्वीकार किया गया। और भारत के समान ही पश्चिम में मध्ययुगों में नैतिक जड़ता और वर्तमान काल में अनैतिकता की कोई कमी नहीं मिलती। एक गाल पर तमाचा मारने वाले को दूसरा गाल दिखाने का आदेश देने वाले ईसा के अनुयायियों ने जिस प्रकार ईसाइयत का प्रसार किया और जिस प्रकार वे "शांति के लिए शस्त्र-संग्रह" के सिद्धान्त और व्यवहार का प्रतिपादन और आचरण कर रहे हैं वह सब हम देख ही रहे हैं। जहां तक दार्शनिकों द्वारा नैतिक चिन्तन का प्रश्न है, पश्चिमी दर्शन के एक प्रमुख संप्रदाय अनुभववाद ने नैतिक बोध को निराधार, अथवा रयायत करते हुए, 'अविचार्य' माना है और मनोविश्लेषण, अस्तित्ववाद और फिनॉमिनलोजी आदि में इसके प्रति असहानुभूति की कोई कमी नहीं है।

× × ×

तीसरा व्याख्यान कर्म पर है। इस व्याख्यान में कर्मविषयक केवल हिन्दू-दृष्टि पर ही विचार किया गया है। किन्तु उस दृष्टि का भी यह नितान्त अपर्याप्त, और कुछ स्थलों पर अयुक्त भी, निरूपण है। इसकी अपर्याप्तता विशेषतः यज्ञीय कर्म को लेकर है, उसके स्वरूप पर दयाजी ने तनिक भी विचार नहीं किया है। उन्होंने मुख्यतः गीता पर ही विचार किया है जो हमें नितान्त अयुक्त प्रतीत होता है। किन्तु व्याख्यान के आरम्भ में उन्होंने दो पृष्ठों में कर्म में इतर व्यक्ति के स्थान और उसके परिणामों पर थोड़ा विचार किया है। दो शब्द उसके सम्बन्ध में यहां कहना भी आवश्यक प्रतीत होता है। कर्म में अन्य व्यक्ति साधक या बाधक के रूप में प्रस्तुत होते हैं। अब, दयाजी के अनुसार कर्म-सिद्धि के लिए बाधक व्यक्तियों को या तो हमें अनुनय से मनाना होता है अथवा बलात् हटाना होता है। उनके अनुसार, दोनों ही रूपों में यह अन्य की (व्यक्ति के रूप में) अन्यता का हनन है और उसका अपने उद्देश्य की पूर्ति में साधन के रूप में प्रयोग है। अन्य का साधन के रूप में यह प्रयोग उस कर्म को, जो कर्म कि नैतिक उद्देश्य से आरंभ किया गया था, अनैतिक बना देता है।" (27) अब, हमें यहां जो बात समझ में नहीं आयी वह यह कि विरोधि-अन्य का विरोध अनुनय अथवा बल-प्रयोग से ही क्यों हटाया जा सकता है, समझा कर क्यों नहीं हटाया जा सकता! और दूसरे, अनुनय या बल-प्रयोग उसे अन्य व्यक्ति से साधन या उपकरण में कैसे बदल देते हैं! अनुनय न तो हम पशु से करते हैं और न पत्थर से, केवल व्यक्ति से ही करते हैं, और उसमें युक्ति यही होती है 'कि यदि आप मेरी बात से सहमत नहीं हैं तो न सही, किन्तु मुझे अपने विचार के अनुसार कार्य करने दें, क्योंकि व्यक्ति के रूप में मुझे अपने विचार के अनुसरण का वैसा ही अधिकार है जैसा आपको।" बलात् हटाने में अन्य की अन्यता का निषेध अवश्य दीखता है किन्तु वास्तव में यह वहां भी नहीं है। इसमें यदि यह ध्यान रखा जाता है कि मेरे कर्म से विरोध करने वाले के उचित स्वार्थ

का हनन नहीं हो रहा है और वह व्यर्थ मेरी स्वतंत्रता में बाधा डाल रहा है तब वह 'अनैतिक व्यक्ति' है और इस कारण वह 'अन्य व्यक्ति' ही है, क्योंकि उसमें हम यह समझ सकने की सामर्थ्य स्वीकार कर रहे हैं कि वह अनैतिक है और वह अपनी इस सामर्थ्य का उपयोग नहीं कर रहा है।

आगे दयाजी कहते हैं कि "व्यक्ति जब परिवार, समाज या देश के सदस्य के रूप में कार्य करता है तब उसके लिए एक सीमा तक मिथ्याचार (हिपोक्रिसी) अनिवार्य हो जाती है जोकि अनैतिक है।" (28) दूसरे शब्दों में, किसी समूह के सदस्य के रूप में हमारे लिए अनैतिक आचरण अनिवार्य हो जाता है। यहां भी सम्भवतः दयाजी नैतिक स्थिति में एक अपरिहार्य अन्तर्विरोध की ओर ही ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि एक ओर नैतिक आचरण के लिए समुदाय-समाज अनिवार्यतः पूर्वापेक्षित है और दूसरी ओर समुदाय का होना अनैतिकता को अनिवार्य बना देता है। किन्तु यदि दयाजी थोड़ा गहराई से देखें तो यह समझने में देर नहीं लगेगी कि साधारणतः समुदाय और उसके सदस्य नैतिकता को शिथिल रूप से ही अपनाते हैं और उसका सुविधा से संतुलन बनाये रखते हैं। दूसरे शब्दों में, साधारणतः समाज में, और साधारण वैयक्तिक जीवन में भी, व्यवहार-नीति का आचरण होता है प्राज्ञनीति का नहीं जो वास्तविक नैतिकता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति नैतिकता के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध है--आठों पहर जागता रहता है—तो उसे मिथ्याचार, अथवा कहें दिखावे, की आवश्यकता नहीं रहती, रहती भी हो तो वह उसे बरतता नहीं। 'उसे आवश्यकता नहीं रहती' का अर्थ है कि समाज भी उससे इसकी अपेक्षा नहीं करता।

अब हम उनकी गीता की आलोचना पर संक्षेप में विचार करेंगे : दयाजी के अनुसार गीता में कर्म के विषय में दो विरोधी निर्देश हैं, एक कर्म-फल के प्रति ताटस्थ्य का और दूसरा ईश्वरार्थता अथवा धर्मसंस्थापनार्थता का। उनके अनुसार दूसरा आदेश प्रथम के विपरीत है क्योंकि दूसरे में सोद्देश्यता है। (31—33) इस आलोचना में 'निष्कामता' और 'ईश्वरार्थ' दोनों को समझने में कमाल की असमर्थता प्रकट होती है। 'निष्कामता' का अर्थ 'निष्प्रयोजनता' है ऐसा दयाजी ने पता नहीं किस आधार पर समझा है, इसका अर्थ केवल प्रयोजन-सिद्धि के प्रति निरुद्विग्नता है। एक साधारण स्तर पर 'स्पोर्ट्समैन्स् स्पिरिट' में भी यह दृष्टि स्पष्ट है। अन्यथा, कोई कर्म निरुद्देश्य किया ही कैसे जा सकता है? हम उठकर चलेंगे भी तो या तो कहीं पहुँचने के लिए चलेंगे या फिर भ्रमण के लिए चलेंगे, जब तक इतने विक्षिप्त नहीं हों कि बस यों ही उठकर चल दें। इस 'यों ही चलने' को तब 'कर्म' नहीं कहा जाएगा। अब इस निष्कामता या 'फलानासक्ति' का ही दूसरा नाम 'ईश्वरार्थता'—'भगवत्समर्पण-भाव' है। 'ईश्वरार्थ' का अर्थ है 'कर्म को ईश्वर का आदेश मानकर करना' और उसके परिणाम-निर्धारण को अपनी सामर्थ्य से बाहर जानते हुए उसके प्रयत्न के विरुद्ध होने पर उद्विग्न नहीं होना।' इस प्रकार यह वास्तव में 'ईश्वरार्थता' 'निष्कामता' की व्याख्या मात्र है। कर्म के प्रति निष्कामता सार्थक तभी हो सकती है यदि कामना को या तो 'अनात्म' माना जाय अथवा भगवत्समर्पित भाव से किया जाय। इनमें पहली दृष्टि 'सांख्य योग' है और दूसरी 'भक्ति योग'।

आगे दयाजी कर्म की 'दुःखजनकता' के सिद्धान्त की बात करते हैं, जो वे ही कर सकते हैं, क्योंकि उनकी बात का भारतीय मानस से कोई सम्बन्ध नहीं है। "कर्म मनुष्य को आत्म-बाह्य रखता है" इस विचार को प्रस्तुत करने के बाद वे कहते हैं—"कर्म का यह पक्ष इसे और गहरा मोड़ दे देता है — यदि कर्म नैतिक हो; क्योंकि तब दूसरों के दावे चेतना को निरन्तर व्याकुल रखेंगे और हम उस थोड़े से सुख से भी वंचित हो जाएंगे जो जीवन में हमें मिलता है। मानवता विशाल है और इसके कष्ट अपार हैं। इनसे बचने के लिए व्यक्ति को अपने में एक मानसिक अंधापन और बहरापन लाने का अभ्यास करना चाहिए जिससे वह अन्यों के दुःख-दर्द को देख-सुन नहीं सके।

"इसके अतिरिक्त, यदि कर्म नैतिक है तो व्यक्ति के लिए अपने कर्मों के फल की चिन्ता करना अनिवार्य है। ऐसे सन्दर्भ में निस्पृहा अनैतिकता का लक्षण है और इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि यह चिन्ता कर्म करने वाले के मन की शांति को भंग करती है या नहीं। बल्कि, मनुष्य को ऐसी परिस्थिति में उद्विग्न होना ही चाहिए, और यदि कोई दूसरों के दुःख से उद्विग्न नहीं होता तो वह मनुष्य नहीं है। गीता इस मौलिक अन्तर्द्वन्द को एक ओर छोड़ देती है और भगवदर्थ तथा निष्काम दो प्रकार के कर्म करने का उपदेश करती है।" (32) यहां हम सर्वप्रथम इससे आरम्भ करेंगे कि गीता इस प्रश्न से बचकर नहीं निकलती बल्कि निरुद्विग्न रहने के लिए स्पष्टतः कहती है। अर्जुन का विषाद बन्धु-बान्धवों की मृत्यु और समाज में अव्यवस्था फैलने की सम्भावनाओं को लेकर ही था। इस विषाद के परिणाम-स्वरूप उसमें त्याग और करुणा की उदात्त भावनाओं का ही उदय हुआ था, कायरता और तामसिकता का नहीं, और कृष्ण ने इसी मनोभाव पर कहा था कि "तू अशोचनीय पर शोक कर रहा है।" यदि थोड़ा ध्यान से देखा जाए तो कांट भी यही कहता है—उसके अनुसार, "यदि आप पर–दुःख-कातर होकर दूसरे की सहायता करते हैं तो आपका वह कर्म "नैतिक" नहीं होगा क्योंकि तब आप अपनी भावुकता की प्रेरणा से वह कार्य कर रहे होंगे, प्राकृतिक मानसिकता (सेंसीबिलिटी) से ऊपर उठकर कर्त्तव्य-बोध से नहीं।" इस तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त से पृथक् भी, पर-दुःख-कातर होने में नैतिक गौरव कैसे है? यह क्या अधिक गौरव की बात नहीं है कि कोई दुःखद परिस्थिति को विधि का विधान माने और दुःख-निवारण को अपना कर्त्तव्य या विधाता का आदेश मानकर करे? पर-दुःख-कातर होना और उससे प्रेरित होकर कुछ करना मानवीय है, अकातर भाव से अपने को निमित्त मानकर करना अतिमानवीय। यहां सहसा गान्धीजी के एक आचरण का ध्यान आता है: क्वेटा में भयानक भूचाल आया था और उसमें बहुत लोग मरे और घायल हुए थे। गान्धीजी ने इसे 'हमारे कर्मों का फल' ही कहा। इस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर बहुत खफ़ा हुए और उन्होंने इसे गान्धीजी की भावना-शून्यता कहा। किन्तु भूचाल से आहत लोगों की सहायता गान्धीजी ने सबसे अधिक की। अब इसे कर्म-फल की वैश्व व्यवस्था मानकर, या प्रभु की लीला मानकर, या विधाता का विधान मानकर, या केवल अपने अनधीन परिस्थितियों का परिणाम मानकर यदि कोई निरुद्विग्न भाव से दुःखी लोगों के दुःख-निवारण के लिए अग्रसर होता है तो यह उच्चतर नैतिकता होगी या कि पर दुःख–कातर-भाव से कर्म-प्रवृत्ति उच्चतर नैतिकता होगी?

किन्तु इसका यह कभी भी अर्थ नहीं है कि दूसरों के दुःख-निवारण में प्रयत्नशील नहीं हुआ जाय, यद्यपि यह भी आवश्यक नहीं है कि हुआ ही जाय। यह उस सन्दर्भ या भूमिका पर निर्भर करता है जिसमें आप हैं। उदाहरण के लिए क्वेटा के भूचाल-पीड़ितों की सहायता के लिए गान्धीजी गए, श्री अरविन्द नहीं गए, शायद उन्होंने कोई सहानुभूति भी प्रकट नहीं की। इससे श्री अरविन्द अनैतिक या नैतिकता के प्रति उदासीन नहीं हो गए, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कोई चित्रकार, दार्शनिक या कवि अपने देश पर आक्रमण होने पर यदि सेना में भर्ती नहीं होता तो वह राष्ट्र-विरोधी नहीं हो जाता।

× × ×

चौथे व्याख्यान का शीर्षक है—"स्वातंत्र्य के परिप्रेक्ष्य।" इसमें स्वातंत्र्य-विषयक भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों का निरूपण है। पाश्चात्य दृष्टि को दयाजी ने स्पैंग्लर के अनुरूप 'फाउस्टीय' विशेषण दिया है और भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधि वेदांत और सांख्य को माना है। स्वातंत्र्य का स्वरूप वे 'अन्य के पराभव' में देखते हैं। सो, वेदांतीय स्वातंत्र्य अन्य की सत्ता के निषेध में है और फाउस्टीय अन्य के नाशन में। दयाजी इन दो में मौलिक अन्तर नहीं देखते किन्तु तब भी, उनके अनुसार, इनमें यह भेद है कि फाउस्टीय में इतर की सत्ता अस्वीकृत नहीं है, क्योंकि वह होने पर ही उसके प्रति उद्विग्नता और उसके नाश की प्रेरणा हो सकती है।

अब, स्वातंत्र्य को अन्य के अभाव या पराभव के रूप में देखने का क्या औचित्य है, यह दयाजी ने नहीं बताया। यदि स्वतंत्रता का अर्थ या उसकी अनिवार्य पूर्वापेक्षा अनन्यता हो तो समाज का अस्तित्व ही नहीं हो। स्वातंत्र्य की इस अवधारणा के अनुसार समाज की विद्यमानता स्वातंत्र्य में बाधा की विद्यमानता होगी। ठीक बात यह है कि दया जी ऐसा ही मानते हैं यद्यपि ऐसा वे स्पष्टतः कहते नहीं हैं। स्वातंत्र्य को अनन्यता या अन्याभाव से परिभाषित करने के मूल में तत्मीमांसा के इस सिद्धान्त से व्यामिश्र प्रतीत होता है कि एक से अधिक द्रव्यों की विद्यमानता का अर्थ है उनका परस्पर सीमित होना। किन्तु यह परिसीमितता सदैव स्वातंत्र्य-बाधक नहीं होती यह कांट और डेकार्ट के दर्शनों से और वेदान्त और सांख्य से भिन्न भारतीय दर्शनों से स्पष्ट है। व्यावहारिक स्तर पर अवश्य इतरत्व स्वातंत्र्य में बाधक हो सकता है किन्तु वह उसमें साधक भी हो सकता है, जैसे सुकरात के संवादों में और सत्संग की अवधारणा में उसे देखा जा सकता है। भक्ति-सम्प्रदाय में ईश्वर की अन्यता भी स्वातंत्र्य-बाधक रूप में नहीं देखी गई है। और फिर, यदि नैतिकता के लिए इतर की विद्यमानता को आवश्यक मानें, जैसाकि दयाजी मानते हैं, तब नैतिकता भी स्वतंत्रता की बाधक होगी, इसी प्रकार स्वतंत्रता में चुनाव के लिए भी स्थान नहीं होगा क्योंकि चुनाव भी चुनी जाने वाली वस्तुओं या वस्तुस्थितियों की अन्यता को पूर्वापेक्षित करता है।

जहां तक पाश्चात्य सभ्यता को 'फाउस्टीय' और 'फाउस्टीय' को "अन्य के नाश में आत्मलाभ देखने वाली" के रूप में परिभाषित करने का प्रश्न है, यह भी युक्त प्रतीत नहीं होता। इसे पाश्चात्य सभ्यता के मानस की एक वृत्ति तो कहा जा सकता है किन्तु उसका सामान्य

स्वभाव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि न तो सुकरात, प्लेटो या अरस्तु में इसकी कोई ध्वनि मिलती है और न ईसाई धर्म में, जिसमें मानव–भ्रातृत्व का सर्वोच्च स्थान है। हेगल और मार्क्स का द्वन्द्व-न्याय भी एक पक्ष द्वारा दूसरे के ध्वंस में आत्मलाभ का न्याय नहीं है बल्कि दोनों पक्षों के उच्चतर स्तर पर संश्लेष में आत्मलाभ का न्याय है।

मानलें कि पश्चिम में स्वातंत्र्य का परिप्रेक्ष्य 'अन्य के अस्तित्व के प्रति सशंकता' पर प्रतिष्ठित है और इस प्रकार पश्चिम का इतिहास "एक पक्ष द्वारा दूसरे को पराभूत करने के निरन्तर प्रयत्न का इतिहास है।" (42) तब इसका अर्थ होता है कि भारत का इतिहास संघर्ष से बचने के प्रयत्न का इतिहास होगा। किन्तु ऐसा है नहीं। तब दयाजी अद्वैतीय और फाउस्टीय दृष्टि-भेद को एक दूसरी मनःस्थिति में प्रतिफलित पाते हैं। उनके अनुसार, भारतीय इतिहास में लड़े गए युद्ध "चाहे कितने भी उग्र और सुदीर्घ रहे हों, ये कभी सिद्धान्तों के आधार पर नहीं लड़े गए, जैसे पश्चिम में।" (43) किन्तु इसके लिए प्रमाण? दूसरे, फाउस्टीय में इतर क्या वैचारिक-सैद्धान्तिक है या कि जैविक? दयाजी के अनुसार वह वैचारिक-सैद्धांन्तिक ही है, विरोधी व्यक्ति और समुदाय मूल्यों के ही वाहक हैं। किन्तु ऐसा आप किस आधार पर कहते हैं? दयाजी के अनुसार 'भारतीय दृष्टि के लिए व्यवहार-लोक असत् है और परिणामतः उसके संघर्ष और अन्य चर्याएं भी निरर्थक हैं, जबकि पश्चिम के लिए व्यवहार-लोक वास्तविक है और परिणामतः उसके संघर्ष भी वास्तविक हैं, उसके लिए ये आदर्शों और मूल्यों के चरितार्थन के संघर्ष हैं। यहूदी, ईसाई, हेगेलीय और मार्क्सीय दृष्टियां सब इतिहास को एक सार्थक और मूल्यात्मक प्रक्रिया के रूप में देखती हैं।' किन्तु तब भारत में भी रामायण और महाभारत के युद्ध आदर्शों और मूल्यों के लिए लड़े गए थे। इस पर दयाजी का कहना है कि वे ऐहिक युद्ध के रूप में नहीं बल्कि धर्म–युद्धों के रूप से देखे गए हैं जिनमें ईश्वर पापात्माओं को परास्त करता है और मनुष्य केवल मूक दर्शक है। (43–44) अब यह भी दोनों सभ्यताओं का भ्रांत निरूपण है। ईसाई, हेगेलीय और मार्क्सीय दृष्टियां इतिहास को अवश्य लक्ष्योन्मुख प्रक्रिया के रूप में देखती हैं किन्तु ये इतिहास के वाहक व्यक्तियों या समुदायों को उस लक्ष्य की चेतना से संघर्षरत नहीं देखती हैं। बल्कि, उनके अनुसार इतिहास-वाहक व्यक्ति और समुदाय स्वार्थों और ईर्षा-द्वेषवश ही लड़ते थे, किन्तु उनसे एक अतिक्रामी ऐतिहासिक प्रयोजन भी सिद्ध होता था—वे इतिहास के उपकरण बनते थे। जहां तक संघर्षों की और इतिहास की धर्म-मूलकता का सम्बन्ध है, ईसाई इतिहास-दृष्टि पूर्णतः धर्म-दृष्टि है और हेगेलीय दृष्टि अतिक्रामी चित्सत्-मूलक। दूसरी ओर, वाल्मीकीय रामायण और महाभारत के युद्ध देव-दानवों के युद्ध नहीं हैं, रामायण का युद्ध सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिए उस मर्यादा के ध्वंसकों के विरुद्ध लड़ा गया था और महाभारत का युद्ध अपने न्याय-संगत अधिकारों की रक्षा के लिए; और एकमात्र ये ही युद्ध विचारों और आदर्शों के लिए नहीं लड़े गए, इधर निकटवर्ती इतिहास में गुरु गोविन्द सिंह, शिवाजी और महाराणा प्रताप शुद्ध रूप से विचार और आदर्श के युद्ध लड़े। इस प्रकार भारत और पश्चिम में यह भेद नहीं है कि पहले के इतिहास के संघर्ष संघर्षकर्त्ताओं में मूल्यबोध के अभाव

में हुए और दूसरे में मूल्य-बोध के आधार पर, बल्कि यह अंतर है कि पहले के लिए इतिहास की कोई अतिक्रामी सत्ता नहीं है और दूसरे के लिए इसकी एक अतिक्रामी सत्ता है।

× × ×

पांचवें व्याख्यान का शीर्षक है "मानदंड की खोज।" अब, मानदंड गुणात्मक भी हो सकता है और मात्रात्मक भी, और दोनों से भिन्न नैतिक, तार्किक आदि भी। किन्तु मात्रात्मक के अतिरिक्त सब मानदंडों को गुणात्मक में संगृहीत करते हुए कहा जा सकता है कि इस मानदंड को 'उत्कृष्टतर-निकृष्टतर' पदों से अभिहित किया जाता है और मात्रात्मक को 'अधिक और कम' पदों से। किन्तु वास्तव में 'अधिक' और 'कम' पद सब प्रयोगों में मात्रात्मक नहीं होते, जैसे 'राम श्याम से अधिक सुन्दर है' में। अब 'स्वातंत्र्य' के साथ मात्रात्मक मानदंड का प्रयोग उचित है या कि गुणात्मक का? इसका उत्तर हो सकता है कि यदि प्रसंग बाह्य बाधाओं का हो तो मानदंड मात्रात्मक होगा और यदि अनुभूति या संकल्प का हो तो मानदंड मात्रात्मक होगा।

किन्तु क्या स्वातंत्र्य की कोई भी अनुभूति या स्थिति उपस्थित, अनुपस्थित या संभाव्य बाधा के बिना हो सकती है? और क्या कोई भी बाधा स्वातंत्र्य की अनुभूति के प्रसंग के बिना हो सकती है? यदि उत्तर 'नहीं' में हो तो दोनों ही अवस्थाओं में मानदंड मात्रात्मक नहीं हो सकता। यह मात्रात्मक तभी हो सकता है यदि व्यक्तियों से प्रश्न करके उनके उत्तरों की तालिका को स्वातंत्र्य या उसके अभाव का वाचक माना जाय। अब इसे मानदंड मानना, जैसाकि आज माना जा रहा है, बुद्धि—विपर्यास ही माना जा सकता है, और कुछ नहीं। जो भी हो, स्वतंत्रता का मानदंड मात्रात्मक कैसे हो सकता है, इसके लिए दयाजी ने कोई युक्ति नहीं दी, कोई सिद्धान्त देना तो दूर की बात है। किन्तु यह उन्होंने अवश्य बार-बार दुहराया है कि यह दूसरों को खोजना चाहिए और जो उन्होंने नहीं खोजा वह उनके प्रमाद का द्योतक है। इसके लिए यहां हम एक उद्धरण देंगे। उनके अनुसार, "राजनीति-विज्ञान में शक्ति के उचित प्रयोग की समस्या सदैव आधारभूत मानी गई है। इसलिए यह आश्चर्य की बात है कि तब भी राजनीतिक स्वतंत्रता (लिबर्टी) के मात्रात्मक मानदंड खोजने की दिशा में कोई कार्य नहीं हुआ है।" (63—64) इसी प्रकार, "इनमें से प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट स्वतंत्रता है जिसे परिभाषित और स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करना आवश्यक है.........इन क्षेत्रों के बीच और इनमें से प्रत्येक में अन्तर्निहित स्वतंत्रताओं के बीच और इन स्वतंत्रताओं के उद्भव की परिस्थितियों के बीच परस्पर सम्बन्धों की जांच करना तथा इन्हें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के अध्ययनों का विषय बनाना आवश्यक है।" (53) किन्तु इसे आवश्यक मानने पर भी दयाजी ने न केवल यही नहीं किया बल्कि यह किस प्रकार किया जा सकता है यह भी नहीं बताया।

इस व्याख्यान में दयाजी ने एक बात बहुत आधारभूत कही है, जो यद्यपि स्वतः-स्पष्ट और सर्वविदित जैसी है किन्तु जो मात्रात्मक मानदंड की खोज के लिए, जो खोज दयाजी को यहां अभीष्ट है, बहुत घातक है। उनके अनुसार, "विभिन्न देशों और संस्कृतियों में (स्वतंत्रता को) मापने के लिए कोई एक मानदंड खोजना स्पष्टतः ग़लत है।" (59) बिल्कुल ठीक, किन्तु संस्कृतिमूलक इस भेद का आधार क्या है? यही नहीं कि प्रत्येक संस्कृति

की विषयिता अपनी विशिष्ट होती है ? उदाहरणतः एक संस्कृति के व्यक्तियों के लिए पति-पत्नी का दूसरों के द्वारा चयन स्वतंत्रता पर बहुत बड़ा आघात होगा और दूसरी संस्कृति के व्यक्तियों के लिए यह एक स्वाभाविक बात हो सकती है। अब स्वातंत्र्य विषयितामूलक होने पर मात्रात्मक मानदंड की खोज कैसे संगत हो सकती है? आश्चर्य की बात यह है कि पिछले व्याख्यान में दयाजी स्वातंत्र्य की भारतीय अवधारणा को 'स्वरूप में अवस्थिति' के रूप में देखकर भी उसके लिए मात्रात्मक मानदंड की बातकर रहे हैं। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि वे व्यक्ति और समाज दोनों की सत्ता प्राकृतिक के बजाय मूल्यात्मक मान-कर भी स्वातंत्र्य को, जो उन्हीं के अनुसार मनुष्यत्व का और सामाजिकता का सार है, किसी भी प्रकार मापनीय मानते हैं। जहां तक पश्चिम का प्रश्न है, उसके आधुनिक युग में ही मात्रात्मक मापनीयता को सत्ता का लक्षण मानने का आग्रह उत्पन्न हुआ है, किन्तु उसमें भी प्रजातंत्रवाद और मार्क्सवाद दोनों का दावा मनुष्य को स्वतंत्रता देने का ही है, और इन दोनों व्यवस्थाओं के पक्षधर इस बात पर एक-दूसरे का गला काटने पर उतारू हैं कि दूसरी मनुष्य की स्वतंत्रता का हनन करती है। तब ये किसी एक मात्रात्मक मानदंड को कैसे स्वीकार कर सकते हैं, यह बात समझ में नहीं आयी!

× × ×

इस पुस्तक के छठे और अन्तिम व्याख्यान का शीर्षक है "समाज : वास्तव या कि आदर्श-कल्पना ?" (रिअलिटी ओर उटोपिया !) इस विषय पर दयाजी ने इस पुस्तक के पहले अध्याय में भी विचार किया है। इसलिए इस व्याख्यान में कोई नया विचार होने की सम्भावना नहीं होनी चाहिए थी, केवल अधिक विस्तार और विवेचन ही हो सकता था। किन्तु ऐसा नहीं है, इसमें दयाजी पूर्वप्रतिपादित विचार से बहुत कुछ विरोधी बात भी कहते हैं। यद्यपि वे इन दो विरुद्ध प्रतिपादनों में संगति बैठाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु वैसा वे कर नहीं पाते, क्योंकि वैसा किया जा ही नहीं सकता। इस व्याख्यान का आरंभ वे पूर्वप्रतिपादित की पुनरावृत्ति के साथ करते हैं : "समाज का क्या स्वरूप है ! अथवा समाज की सही अवधारणा किस प्रकार की जा सकती है !..........यह प्रश्न ज्ञानात्मक प्रश्न के रूप में नहीं देखा जा सकता, इसे ज्ञानात्मक प्रश्न के छद्म-वेश में मूल्यात्मक प्रश्न के रूप में ही देखा जाना चाहिए। इस प्रश्न को ठीक प्रकार से समझा जाय तो यह मूल्या-त्मक निर्णय की मांग है। इसमें परिपृच्छा है कि आप कैसा समाज चाहेंगे, अथवा कैसे समाज को श्रेष्ठतर समाज कहेंगे !" (68) किन्तु आगे वे प्रश्न उठाते हैं, जोकि वास्तव में बहुतों ने उठाया है, कि तब समाज-विषयक सत्य का, यथार्थ का, कोई प्रश्न नहीं रहता, इसे वांछनीय रूप में घड़ने का प्रश्न ही रहता है।

किन्तु तब समाचार और विचार पर ऐसा नियंत्रण नितांत उचित हो जाता है जो समाज को 'सही' दिशा में ले जाने के लिए उपयुक्त हो। अधिनायकवादी सरकारें वास्तव में यही करती हैं। ऐसी अवस्था में हिटलर और स्टालिन को दोष देना व्यर्थ है, क्योंकि ऐसे समाचारों और वक्तृताओं पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो जाता है जो समाज को अवांछनीय दिशा में ले जाएं। दूसरे शब्दों में, समाज की उपर्युक्त अवधारणा के अनुसार 'सत्य वही है जो उसे होना चाहिए।' अपने मत के इस अनभिप्रेत निष्कर्ष का समाधान

दयाजी इस प्रकार करते हैं—"स्पष्टतः यह वैज्ञानिक विषयनिष्ठता के उस प्रत्यय को छोड़ना होगा जो आधुनिक ज्ञान के अधिकांश क्षेत्रों में स्वीकृत है। यह हताशता की पराकाष्ठा है, यह विषयनिष्ठता और सत्य की खोज को एकबारगी और पूरी तरह से मृगतृष्णा मान लेना है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है। समाजवैज्ञानिक को समाजवैज्ञानिक के रूप में ऐतिहासिक प्रक्रिया में कोई पक्षपात नहीं करना चाहिए। आत्मचेतन विचार में यह महत् शक्ति है कि वह सब कुछ का विषयकरण कर सकता है, और तब इसका कोई कारण दिखाई नहीं देता कि यह क्यों उस विचित्र परिस्थिति के सामने, जो सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक यथार्थ के रूप में उपलब्ध होती है, अपने को अशक्त पाये।

"यह बोध कि सामाजिक विज्ञानों में सैद्धान्तिक अभ्युपगम अनिवार्यतः एक मूल्यात्मक आयाम से आविष्ट रहते हैं, इसे प्रकाश में लाने की चुनौती प्रस्तुत करता है। किन्तु वैज्ञानिक को इन अभ्युपगमों में निहित मूल्यात्मक परिणामों तथा मूल्य-प्रतिबद्धताओं के साथ अपने को नहीं जोड़ना चाहिए। उसका कार्य विभिन्न वैकल्पिक अभ्युपगमों और उनसे सम्बन्धित विभिन्न मूल्यात्मक परिणामों के तार्किक निगमन प्रकट करना है।" (71) यह स्पष्टतः पिछले प्रतिपादन के विपरीत है। निश्चय ही आत्मचेतन विचार सब कुछ का विषयकरण करता है, किन्तु उसकी विशिष्टता अपना विषयकरण करने की योग्यता है। यह विषयकरण विचार और अध्यवसायात्मक ज्ञान का आधार है। यह ज्ञान तथाकथित वैज्ञानिक और आधुनिक युग के पहले भी लोगों को था और उनमें विषयनिष्ठता की सामर्थ्य भी आधुनिक वैज्ञानिक युग जैसी ही थी। यदि 'विषयनिष्ठता की एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा निराग्रहता को माना जाए तो यह बात विवादास्पद हो सकती है कि आधुनिक युग विज्ञानाग्रह-ग्रस्त नहीं है। किन्तु इस बात को छोड़ते हुए, जो यहां अवांतर है, यहां प्रश्न है कि यदि समाजवैज्ञानिक समाज, मूल्यान्वेषण आदि को मूल्य-निरपेक्ष विषयनिष्ठता के साथ देख सकता है तब समाज की अनिवार्य मूल्यविषयता (वैल्यू-ऑब्जेक्टनेस) का क्या अर्थ है? दयाजी कहते हैं कि समाजवैज्ञानिक मूल्यनिरपेक्ष भाव से समाज के लिए वैकल्पिक निदर्श (आल्टर्नेटिव मॉडल्स) या आदर्श प्रकारताएं (आइडियल टाइप्स) कल्पित कर सकता है और तब समाज के नेता उनमें से अपनी पसन्द के अनुसार निदर्श का वरण कर सकते हैं। इस प्रकार वह ज्ञानात्मक स्तर पर बना रह सकता है। हम दयाजी के इस प्रस्ताव का विरोध नहीं करना चाहते, हमें यह भी मालूम है कि उनके इस प्रस्ताव का अनुसरण बहुत लोग बड़े प्रयत्न से करते हैं। किन्तु हमारा प्रश्न है कि तब दयाजी के इस विचार का क्या होगा कि समाज आधारभूत रूप से मूल्य- विषय है और समाज के सम्बन्ध में कोई भी प्रज्ञप्ति अनिवार्यतः मूल्यात्मक होती है! दयाजी इस अन्तर्विरोध की स्थिति से निकलने के लिए एक रास्ता निकालते हैं। वे कहते हैं कि "आदर्श प्रकारता आदर्श के साथ संयुक्त हो जाएगी और वह कर्म के लिए मूल्यात्मक निर्देशक बनेगी।" (74) इतना ही नहीं, वे आगे कहते हैं "किन्तु यह सोचना कि कोई समाजविज्ञानों में किसी आदर्श-प्रकारता की रचना उसके आदर्श में परिणत होने की संभावना का वरण करते हुए कर सकता है, समाजविज्ञानों की प्रकृति को नहीं समझना है।..........हम 'आर्थिक मानव', 'कामी मानव', 'वर्ग-मानव', जाति-मानव' आदि आदर्श प्रकारताओं (आइडियल टाइप्स) की रचनाओं से परिचित ही हैं। फ्रायड

और मार्क्स बीसवीं शताब्दी के घरेलू नाम हैं।…………"(75—76) मान लें कि यह सही है, किन्तु आदर्श-प्रकारता के आदर्श में कार्यान्वित होने से आदर्श-प्रकारता की मूल्य-निरपेक्षता में क्या अन्तर पड़ता है, और किसी प्रकारता के मूल्य में क्रियान्वित होने में क्या कोई तार्किक अनिवार्यता है ? यह क्रियान्वयन क्या केवल एक सांयोगिक बात नहीं है ?

किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि क्या उपर्युक्त प्रकारता-रचनाएँ वास्तव में मूल्य-निरपेक्ष हैं ? क्या ये गहरे मूल्यात्मक पूर्वाग्रहों, अथवा कहें विपर्यस्त पूर्वाग्रहों की उपज नहीं थीं ? इसी प्रकार, क्या वैज्ञानिकता धार्मिकता से कम मूल्यात्मक है ? फिर चाहे वह कैसी भी मूल्यात्मकता क्यों नहीं हो ! उदाहरणतः स्वातंत्र्य का मात्रा-परिमाण-योग्य वस्तु में रूपान्तरण और नापने के लिए मानदंड की खोज क्या कम कष्टसाध्य कार्य है ? इसीलिए दयाजी ने यह कार्य किया भी नहीं है, केवल दूसरों को परामर्श दिया है कि उन्हें करना चाहिए। अब भला कोई यह कष्ट क्यों उठायेगा यदि उसके प्रति उसकी बहुत गहरी मूल्य-निष्ठा नहीं हो तो ? किन्तु दयाजी से यहां हमारी दूसरी अपेक्षा है और वह यह कि वे यह बतायें कि वे समाज की मूलगामी मूल्यात्मकता-विषयक अपनी प्रतिपत्ति में और उसके मूल्य-निरपेक्ष वैज्ञानिक निर्धारण और वैकल्पिक निर्देशों के रूप में मूल्य-निरपेक्ष विषयकरण में कैसे संगति देखते हैं !

× × ×

जैसाकि हमने इस समीक्षा के आरंभ में कहा, हमें दयाजी की समाज-विषयक दृष्टि पूर्णतः युक्त प्रतीत होती है, उसका विशदीकरण भी सामान्यतः युक्त ही प्रतीत होता है, किन्तु कहीं-कहीं उससे हम अपने को असहमत पाते हैं। यहां हमने उन्हीं स्थलों पर अपना मत प्रस्तुत किया है। यह सम्भव है कि हमारी ये आलोचनाएँ पूर्णतः भ्रांतिमूलक हों, हमने दयाजी की युक्तियों को ठीक से समझा ही नहीं हो। ऐसा भी होता है कि हम किसी वस्तुस्थिति को जैसे देख रहे होते हैं वह उसका केवल एक पक्ष होता है और दूसरा उसका दूसरा पक्ष प्रस्तुत कर हमें चकित कर देता है। सम्भव है हम केवल यही कर रहे हों ! यह अब दयाजी के उत्तर से पता चलेगा कि हमारी ये आलोचनाएँ किस प्रकार की हैं !

पी. 51, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड, जयपुर-302015

उन्मीलन : वर्ष ३, अंक १–२
जनवरी-जुलाई, १९८७

4

क्या भारतीय संस्कृति सम्मिश्र संस्कृति है ?

हर्षनारायण

गताङ्क के 'पुस्तक-समीक्षा' स्तम्भ के अन्तर्गत हम ने लिखा था 'भारत अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की खोज में भटक गया है। भारतीय संस्कृति को मिश्र संस्कृति, सामासिक संस्कृति (कम्पोज़िट कल्चर), हिन्दुत्व और इस्लाम की मिली-जुली "गङ्गा-जमुनी" संस्कृति सिद्ध करने की धुन में ऐसी मानसिकता को जन्म दिया जा रहा है जिससे वास्तविक भारतीय संस्कृति के स्वरूप-विसर्जन, स्वरूप-च्युति, की प्रबल आशङ्का उत्पन्न हो गयी है।' वहीं हमने इस विषय को किञ्चित् विशद करने का यत्न किया था। प्रस्तुत निबन्ध इस विषय के व्यापकतर और गहनतर स्तर पर प्रतिपादन का एक प्रयास है।

अच्छा, पहले सम्मिश्र संस्कृति (कम्पोज़िट कल्चर) का अर्थ सुनिश्चित कर लें। क्या भारतीय संस्कृति सांस्कृतिक पुञ्जमात्र (कांजरीज़) है, खिचड़ी संस्कृति, सङ्कर-संस्कृति, सङ्कीर्ण संस्कृति (एक्लेक्टिक कल्चर) है, अथवा समन्वित संस्कृति (सिन्थेटिक कल्चर) है ? सम्मिश्र संस्कृति के ये तीन ही अर्थ हो सकते हैं। सांस्कृतिक पुञ्ज को परिभाषित करते हुए पितिरिम ए. सोरोकिन कहता है, "सांस्कृतिक पुञ्ज का सर्वाधिक सुस्पष्ट उदाहरण सांस्कृतिक विषयों की वह समष्टि है जो मात्र दैशिक सन्निकर्ष से (अथवा कालिक सन्निकर्ष से, जैसे न्यूज़रील की अनेक घटनाएँ) अन्तस्सम्बद्ध।'[1] तो क्या भारतीय संस्कृति को सम्मिश्र संस्कृति मानने वाले यह कहना चाहते हैं कि उस की घटकभूत अनेक सांस्कृतिक इकाइयों में दैशिक (और कालिक) के अतिरिक्त कोई तात्त्विक सम्बन्ध, अन्तस्सम्बन्ध नहीं है, कि वे एक ही देश में निवास करते हुए परस्पर पृथक् और स्वतन्त्र हैं ? इसी के अन्तर्गत प्रश्न है कि क्या इस पुञ्ज के घटकों में शान्तिमय सहभाव है अथवा वे

1. 'Any collection of cultural phenomena interrelated only by spatial adjacency (or time-adjacency, like many newsreel events) makes the most conspicuous case of cultural congeries.' (सारा मूल इटलिक्स में हैं), Pitirim A. Sorokin, Social Philosophies of an Age of Crisis (London; Adam & Charles Black; 1952), P. 192.

परस्पर संघर्षशील हैं ? यह तो निर्विवाद ही है कि भारतीय समाज अनेकात्मक समाज है।

यदि नहीं, तो क्या हमारी संस्कृति खिचड़ी संस्कृति, सङ्कीर्ण संस्कृति या सङ्कर-संस्कृति है ? साङ्कर्य का अर्थ है अनाप-शनाप मिश्रण, जिस में संस्कृति की सहज प्रकृति, संस्कृति की अन्तरात्मा से सङ्गति अथवा अनुरूपता नहीं रहती और जिस में फलतः लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना रहती है। जीवनी शक्ति के ह्रास के फलस्वरूप समाज नकलची बन जाता है, अन्य संस्कृतियों के दुर्गुणों की भी नकल करने लगता है। कभी-कभी एक समाज के लिए जो पथ्य होता है वह दूसरे के लिए विषय सिद्ध होता है, अतः नकलची समाज यहाँ भी घाटे में रहता है। यामुनाचार्य ने तन्त्रों में वृथा घालमेल के विरुद्ध चेतावनी देते हुए कहा है—

शैवं, पाशुपतं, सौम्यं, लागुडश्च चतुर्विधम्।
तन्त्र-भेद समुद्दिष्टः, सङ्करं न समाचरेत्।।[2]

अर्थात् शैव, पाशुपत, सौम्य, और लागुड चारों तन्त्रों की मर्यादाएँ भिन्न हैं, इन में साङ्कर्य नहीं करना चाहिए। यहां सङ्कर अथवा साङ्कर्य का वही अर्थ है जो अंग्रेज़ी में 'कन्फ्यूज़न' शब्द का समझा जाता है। तो क्या भारतीय संस्कृति को सङ्कर संस्कृति मानने वाले यह कहना चाहते हैं कि वह सांस्कृतिक घालमेल (कन्फ्यूज़न) का प्रतिनिधित्व करती है ?

तीसरा और अन्तिम विकल्प यह है—सम्मिश्र संस्कृति, अर्थात् समन्वित संस्कृति। 'समन्वय' का प्रायः अच्छे अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इस का अर्थ होता है स्वस्थ एकी-भाव। क्या सम्मिश्र संस्कृति के पक्षधरों को यही अर्थ विवक्षित है ?

अभी हाल तक अंग्रेज़ी राज्य में भी भारतमूलीय धर्म-दर्शन की ही संज्ञा 'भारतीय दर्शन' थी। भारत में इस्लामी धर्म-दर्शन का भी प्रचार हुआ था। उस के उन्नायकों में मुजद्दिदे अल्फ़े सानी, शाह वलीउल्लाह, शाह इस्माईल शहीद, फ़ज़्लुऽल्-हक़ ख़ैराबादी, क़ासिम नानौतवी, मुल्ला सद्रा, इक़बाल आदि अग्रगण्य हैं। इन में से कोई भी दार्शनिक भारतीय दर्शन के इतिहास में स्थान नहीं पा सका है। कहीं-कहीं पाठ्य-क्रम में इक़बाल अवश्य दिखायी दे जाते हैं, किन्तु अपवादत्वेन ही। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति से भी सामान्यतः इस्लाम-पूर्व भारतीय संस्कृति और परवर्ती हिन्दू संस्कृति ही समझी जाती थी। स्पष्ट है कि तब जाने-अनजाने यह मान कर चला जाता था कि भौगोलिक भारत चाहे अन्यों का भी हो, धार्मिक-दार्शनिक और सांस्कृतिक भारत हिन्दु-भारत है, बौद्ध, जैन, आदि को समेटते हुए हिन्दुओं का भारत है।

ऐसा क्यों था ? इसलिए कि इस में किसी को सन्देह नहीं था कि मुसलमानों के यहाँ बस जाने के बावजूद इस्लामी धर्म, दर्शन, और संस्कृति विदेशी धर्म, दर्शन, और संस्कृति है; कि मुस्लिम शासन विदेशी शासन था; और कि भारत-भूमि पर जन्म लेने वाली

---

2. यामुनाचार्य, आगमप्रामाण्यम्, । 109

मुस्लिम धर्म, दर्शन, और संस्कृति की परम्परा भी मूल उत्स और प्रेरणा-स्रोत की दृष्टि से विदेशी है। अर्थात् सामान्य धारणा यह थी कि मुस्लिम संस्कृति का भारतीय संस्कृति से केवल दैशिक सन्निकर्ष था, कालिक भी, किन्तु तात्त्विक कदापि नहीं था।

सम्भवतः सब से पहले लाला लाजपत राय ने यंग इंडिया में यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि यहाँ का मुस्लिम-शासन विदेशी-शासन नहीं था। फिर तो नेहरू आदि सभी वही बोली बोलने लगे। इन लोगों का मत है कि मूलतः विदेशी और आगन्तुक होते हुए भी मुस्लिम शासन विदेशी नहीं रह गया, स्वदेशी बन गया। मुसलमान आक्रान्ता बन कर आये, किन्तु अधिकतर यहीं बस गये, यहीं के हो गये, महमूद ग़ज़नवी के समान ऐसा नहीं किया कि यहाँ से धन लूट कर विदेश ले गये हों।

इस तर्क में बल नहीं प्रतीत होता। शासक के भारत में बस जाने मात्र से शासन स्वदेशी नहीं हो जाता। देखना यह होता है कि वह किस के हित में प्रवृत्त है, भारतीयों के प्रति उस के क्या भाव हैं ? उदाहरण लें। जैसे भारत में मुसलमान बस गये और शासन करने लगे, वैसे अमेरिका में यूरोपीय बस गये और वहाँ के मूल निवासियों पर, जिन्हें उन्होंने रेड-इंडियन' की संज्ञा दी शासन करने लगे। क्या रेड इंडियन उन्हें अथवा उन के शासन को 'स्वदेशी' कह सकते है ? शासकों के हाथों रेड इंडियनों का सर्वस्व स्वाहा हो चुका है। बचे-खुचे रेड इंडियनों से यह आशा करना कि वे अपने शासकों को स्वदेशी मानें, उन के साथ क्रूरतम कोटि का परिहास करना है।

यह उदाहरण भारतीय सन्दर्भ में लगभग सटीक बैठता है। अपवाद छोड़ कर, भारत के मुस्लिम शासक अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी सीमा के अन्तर्गत, हिन्दू धर्म, सभ्यता और संस्कृति के समूल उच्छेद में ही प्रवृत्त रहे, इस में आश्चर्य का अवकाश नहीं। ऐसा वे सर्वत्र करते रहे हैं। तुर्किस्तान, मिश्र, सीरिया, ईराक, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, इन्दोनेसिया, कहाँ तक गिनायें, जहाँ-जहाँ उनका पदार्पण हुआ वहाँ-वहाँ के निवासी उन के द्वारा पादाक्रान्त हुए। उन्होंने इन का समाज विशीर्ण किया, इन की सभ्यता तहस-नहस की, इन की भाषा मिटायी, इन की संस्कृति का उच्छेद किया, इन के धर्म का ध्वंस किया, एक शब्द में, इन की अस्मिता ही समाप्त कर दी। इक्बाल का गीत है—

यूनानो मिस्रो रूमा सब मिट गये जहाँ से

उन्हें मिटाने में मुस्लिम हाथों ने किसी से कम भूमिका नहीं निभायी। केवल तुर्की भाषा उन के मिटाये नहीं मिट पायी। उन के हाथों फ़ारसी भाषा लगभग तीन सौ वर्ष तक दबी रही। तब तक उस में कोई रचना नहीं हो पायी। उस अवधि के बाद रोदकी के हाथों उस का पुनरुद्धार हुआ, किन्तु उस में अरबी शब्दों की घुसपैठ के कारण वह मुस्लिम फ़ारसी के रूप में उभर सकी। स्पेन एकमात्र देश है जहां आठ सौ वर्ष-व्यापी मुस्लिम शासन और संस्कृति को सदा के लिए निर्मूल कर दिया गया और उस के स्वदेशी होने के दम्भ के लिए अवकाश ही नहीं छोड़ा। यह तो भारत ही है जहाँ इस प्रकार के पचड़ों को राष्ट्रीय स्तर पर श्रद्धा-सुमन चढ़ाये जाते हैं।

वस्तुतः मूसलमानों के भारत में पदार्पण के पूर्व यहाँ अनेक धार्मिक-सांस्कृतिक परम्पराओं और सम्प्रदायों में विभक्त किन्तु सन्तुलित मानवता बसती थी। इस्लाम ने इस

सन्तुलन को समूल नष्ट करने की चेष्टा की। तभी से भारतीय मानवता को हिन्दू कहने की परम्परा ने ज़ोर पकड़ा।

अस्तु, मुस्लिम शासन ने भारत में भी वह सब करने में यथासम्भव कोई कसर नहीं छोड़ी जो उस ने स्पेन आदि में किया था—

फिर भी मगर है बाकी नामो निशाँ हमारा

कारण अनेक हैं जिन की सम्यक् मीमांसा का यहाँ अवसर नहीं है, तथापि इस विषय में कुछ सङ्केत आवश्यक प्रतीत होता है। पहली बात तो यह है कि यह देश अन्यों की अपेक्षा कहीं विशाल भूखण्ड और जनसंख्या वाला रहा है, इतना विशाल कि इसे विभाजन के बाद भी कभी-कभी उपमहाद्वीप कह कर पुकारा जाता है। इतने बड़े भूखण्ड, इतनी बड़ी जनसंख्या, का उच्छेद अथवा रूपान्तरण-धर्मान्तरण ठट्ठा नहीं। तथापि अफ़गानिस्तान,[3] पाकिस्तान, और बंगलादेश मुस्लिम संस्कृति ने निगल ही लिये, और बचे-खुचे भारत में भी इस्लाम के अनुयायियों की इतनी बड़ी संख्या है कि इन्दोनेसिया छोड़ अन्य किसी मुस्लिम देश की जनसंख्या उसकी बराबरी नहीं कर सकती। और हमारा 'नामो निशाँ' कितना बाकी है और कितना नहीं, यह जानने के लिए सम्पूर्ण अखण्डित भारत (अफ़गानिस्तान, वर्तमान भारत, पाकिस्तान, और बंगला देश) को ध्यान में रखना पड़ेगा! कहते हैं कि सन् 1800 ई. में तत्कालीन भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों की जनसंख्या का अनुपात 7 : 1 था, 1850 ई. में घट कर 6:1 हो गया,[4] और अब 3:1 से भी कम है। क्या हमारा लगभग आधा अथवा तिहाई 'नामो निशाँ' नहीं मिट गया है? और देखिए, हिन्दू समाज भी तो टूट रहा है। परिगणित और तथोक्त पिछड़ी जातियाँ हिन्दू समाज से कभी भी नाता तोड़ सकती हैं, किसी सीमा तक तो तोड़ ही चुकी हैं। उन का व्यापक स्तर पर धर्मान्तरण और अतएव संस्कृत्यन्तरण घटित हो सकता है। तथोक्त सवर्णों में बौद्धिकों का एक निरन्तर वर्धिष्णु भाग हिन्दुत्व-विमुख हो कर साम्यवादी, समाजवादी, सेक्युलर बनता जा रहा है।

मुस्लिम शासन-काल में हिन्दु-समाज की दुरवस्था का चित्रण वर्णनातीत है। इस का कुछ कुछ अनुमान अमीर खुसरौ के अधोलिखित वक्तव्य से लग सकता है—"संसार की अनादि काल से यह रीति चली आ रही है कि हिन्दू सदा तुर्कों का शिकार है। भ्रमणशील व्योम की यही रीति है कि हिन्दुओं का अस्तित्व तुर्कों के लिए है। तुर्क से ये सदा विजित होते रहते हैं, जो जब चाहता है इन्हें पकड़ता है, खरीदता है, और बेचता है।'[5] वह

---

3. जी हाँ, मुस्लिम-आक्रमण के पूर्व अफगानिस्तान प्रायः गान्धार नाम से प्रसिद्ध था और वहाँ हिन्दुओं और बौद्धों का शासन था।

4. K.S. Lal, Growth of Muslim Population in Medieval India (Delhi; Research Publications. 1973), p. 156.

5 जहाँ रा क़दीम आमद ई रस्मो पेशः
कि हिन्दू बुअद सैदे तुर्कां हमेशः (पृ. 89)
जि रस्मे कि रफ्तऽस्त चर्खे रवाँ रा

यहाँ तक लिख जाता है कि 'यदि हिन्दुओं से जिज्या लेकर उन की जान न बख्शी गयी होती तो हिन्दुओं का नाम-निशान तक मिट जाता।'[6]

वस्तुत. भारत की पूरी मुस्लिम शासन-परम्परा मुस्लिम हितों के साधन-सम्पादन के लिए सुरक्षित प्रतीत होती है, हिन्दु-समाज तो उस का मृगया-वन था। मुसलमानों का शासन मुसल्मानों के लिए था; हिन्दू यथाकाम क्रेय था और यथा काम बध्य था। अनेक सुल्तानों की तो यह नीति ही रही कि हिन्दू समृद्धिशाली न होने पायें, उन्नति न करने पायें, पनपने न पायें। सुल्तान जैनुऽल- आबिदीन और सम्राट् अक्बर अवश्य अपवाद थे, किन्तु अपवाद उत्सर्ग का खण्डन नहीं मण्डन ही करते हैं। अतः मुस्लिम शासन और संस्कृति किसी प्रकार भी स्वदेशी शासन और संस्कृति का महनीय अभिधान प्राप्त नहीं कर सकते। पुनः, सम्मिश्र संस्कृति का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

वस्तुतः मुस्लिम धर्म, दर्शन, और संस्कृति के अनुसार अमुस्लिम अथवा काफ़िर के साथ शान्तिमय सहभाव और सहकार वर्जित है। काफ़िर के लिए इस्लाम, तलबार, दासता, या जिज्या के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं। ऐसा धर्म, ऐसी संस्कृति, स्वदेशी नहीं माने जा सकते। भौगोलिक साझेदारी सांस्कृतिक साझेदारी के अधीन रह कर अर्थवान् हो सकती है, सांस्कृतिक साझेदारी की बलि दे कर नहीं : देश का देशत्व, राष्ट्र का राष्ट्रत्व, उस की अस्मिता में निहित है, और जो बाह्य संस्कृति यहाँ बसते हुए भी राष्ट्र की अस्मिता के उत्पाटन में प्रवृत्त हो उसे स्वदेशी संस्कृति अथवा उसका अङ्ग मानने का कोई औचित्य नहीं है।

इस्लाम की सूफी धारा अपेक्षया उदार मानी जाती है। उस में भारतीय संस्कृति के उच्छेद के लिए बल-प्रयोग का कम ही आग्रह देखने को मिलता है। उस में कभी-कभी तो दारा-शिकोह जैसे वेदान्त-प्रेमी भी दिखायी दे जाते हैं। तथापि धर्मान्धतामूलक बल-प्रयोग अथवा इस के पोषण के सूफी उदाहरण कभी-कभी चौंका देने वाले सिद्ध होते हैं। चिश्तीया और सुहरावर्दीया पीठों/आश्रमों (खानकाहों) के सूफी-सन्त सुल्तानों में धर्मान्धता और कट्टरता का आधान करने में अग्रणी दिखायी देते हैं। ख़्वाजा मुईनुऽद्-दीन चिश्ती ने तो मुहम्मद ग़ोरी को भारत पर आक्रमण के लिए आहूत ही किया था। सय्यिद नूरूऽद्दीन मुबारक ग़ज़्नवी सुहरावर्दी सुल्तान ईल्तुतमिश के शैखुऽल (धर्माचार्य) नियुक्त हो कर उसके पास उलमा का एक प्रतिनिधिमण्डल उसे यह समझाने के लिए ले गये कि हिन्दुओं को

वुजूद अज़ पए तुर्क शुद हिन्दुआँ रा
कि तुर्कऽस्त ग़ालिब बर एशाँ चु कोशद
कि हम गीरदो हम खरद हम फ़रोशद (पृ.131)
अमीर खुस्रौ, मस्नवी-ए नुह सिपिह्र, वहीद मिर्ज़ा, सं. (कलकत्ता: बैपटिस्ट मिशन प्रेस, 1948), सिपिह्र 2, (पृ. 89, 131)

6. ब- जिम्मः गर न बूदे रुख़्सते शअ्
न माँदे नामे हिन्दू ज़िऽस्ल ता फर्अ
अमीर ख़ुस्रौ, मस्नवी-ए दौल रानी व ख़िज्र खाँ (अन्य नाम अशीक़:, आशोक:, आशिकीय:, इश्कीय और सहीफ़:-ए इ़श्क़), रशीद अहमद अन्सारी, सं. (अलीगढ़, इन्स्टोट्यूट प्रेस. 1917), पृ. 46.

इस्लाम और मृत्यु में से एक वरण कर लेने की अन्तिम चेतावनी दे दी जाय। यह तो कहिए कि सुल्तान ने इसे अव्यावहारिक और आत्मघाती कह कर टाल दिया, अन्यथा देश की क्या दशा होती, इस की कल्पना से ही हृदय काँप जाता है। वस्तुतः शैख़ ने अन्त में यह भी जोड़ा था कि इस्लाम-रक्षक सुल्तान का यही लक्षण है कि वह यदि हिन्दू काफ़िरों का वध करने में समर्थ नहीं हो तो कम से कम उन्हें पददलित अवश्य करे और कि जब वह किसी हिन्दू को देखे तो उसका चेहरा तमतमा जाय और वह उसे कच्चा चबा जाना चाहे।[7] एक अन्य सूफ़ी का उदाहरण लीजिए। शैख़ जलालुऽद्-दीन बुख़ारी सुहरावर्दी मख़्दूमे जहानियाँ जहांगश्त की रुग्णता का समाचार सुन कर ऊछ का हिन्दू दारोगा नवाहूँ उन की शुश्रूषा के लिए उन की सेवा में उपस्थित हुआ और श्रद्धाविभोर हो कर बोला—"आप अन्तिम सन्त हैं, जैसे मुहम्मद साहेब अन्तिम नबी थे।" इस पर शैख़ ने कहा कि पूरा कलिमा पढ़ कर मुसलमान हो जा अन्यथा प्राण से हाथ धोने पड़ेंगे। उस ने नहीं माना, अतः उसे सुल्तान फ़ीरोज़शाह तुग़लुक़ के समक्ष उपस्थित कर के उस की आज्ञा से उस का वध करा दिया।[8] और भी, जब अलाउऽद्-दीन ख़ल्जी ने देवगिरि पर अधिकार कर लिया तब सैकड़ों सूफ़ियों ने दक्षिण जा कर अपने आश्रम खोल लिये, जिन का व्यय-भार वहन करने के लिए रजवाड़ों से मोटी रक़में ऐंठी जाती थीं। हाजी सय्यिद उर्फ़ सर्वर मख़्दूम, हिसामुऽद्-दीन प्रभृति सूफ़ी सन्तों ने तो आक्रमणात्मक युद्धों में खुल कर भाग लिया, जिस के उपलक्ष्य में वे क़त्ताल (महाहन्ता) और कुफ़्फ़ार-भंजन की उपाधियों से विभूषित किये गये।[9]

आधुनिक अखण्डित भारत में सम्पूर्ण मुस्लिम समाज ने अपने को पृथक् संस्कृति और राष्ट्र के रूप में मनवा लिया और देश के टुकड़े भी करा दिये। यह दूसरी बात है कि हम दुराग्रहपूर्वक बचे-खुचे भारत को भी हिन्दू और मुसलमानों का सम्मिलित देश और यहाँ की संस्कृति के सम्मिश्र संस्कृति होने का राग अलापते जा रहे हैं।

यह सही है कि न चाहते हुए ही सही, अखण्डित भारत में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के बीच किसी सीमा तक आदान-प्रदान की प्रक्रिया अवश्य चली थी जिसका प्रभाव आज भी परिलक्षित होता है। किन्तु उस से किसी संश्लिष्ट अथवा सम्मिश्र संस्कृति का उदय नहीं होने पाया। दोनों की जीवन-दृष्टियाँ इतनी भिन्न और परस्पर असमञ्जस हैं कि उनका मिश्रण तेल और पानी के मिश्रण के समान असम्भव था। दोनो में शान्तिपूर्ण, सहकारी सहभाव कम से कम स्थायी रूप से सम्भव ही नहीं था। उर्दू भाषा और साहित्य हिन्दु-मुस्लिम संस्कृतियों के सम्मिश्रण का परिणाम नहीं, इस्लामी स्वर का भारतीय परि-धान मात्र है, जिस के सारे बेल-बूटे विदेश से आयातित हैं और जिस के धागे भी अधि-कांशतः इस्लामी हैं। उर्दू संस्कृति कुल मिला कर मुस्लिम संस्कृति की लक्ष्मण-रेखा लाँघ

---

7. जियाउऽद्-दीन बरनी, सहीफ़ः- ए नाते मुहम्मदी।
8. जमाली, सियरु ऽल- ओरिफ़ीन, पृ. 159, ख़लीक अहमद निज़ामी, सलातीने देहली के मज़्हबी रुज्हानात् (दिल्लीः नदवतु ऽल्-मुसन्निफ़ीन, 1958), पृ. 426-427
9 M.A., karandikar, Islam in India's Trasition to Modernity (Bombay et., Orient longman;, 1968), p. 122.

नहीं पायी। इक्बाल की स्वीकारोक्ति है कि 'मेरा मटका अजमी (अरब-बाह्य) है तो क्या, मेरी शराब तो हिजाजी (अरबी) है। मेरा गीत भारतीय है तो क्या, मेरी लय तो हिजाजी है'—

अजमी खुम है तो क्या, मै तो हिजाजी है मेरी
नग्मः हिन्दी है तो क्या, लय तो हिजाज़ी है मेरी

प्रभाव तो यहाँ ईसाई संस्कृति का भी लक्षित किया जा सकता है किन्तु इस्लाम के प्रभाव से भी कम। उस का सीधा प्रभाव तो बस ब्रह्मसमाज की विचार-सरणी में और रामकृष्ण मिशन की सेवा-भावना में देखा जा सकता है। दूसरी ओर ईसाईकरण का अर्थ पर्याप्त सीमा तक विराष्ट्रीयीकरण (डीनैश्नलाइज़ेशन) हो जाता है। ईसाई होते ही भारतीय की भारत के प्रति ममता और एकात्मता में कमी आ जाती है। इस्लामीकरण द्वारा तो यह प्रक्रिया और तीव्र हो जाती है। भारतीय संस्कृति, हिन्दू, बौद्ध, जैन धर्म, सब से नाता यदि टूट नहीं जाता तो शिथिल अवश्य हो जाता है। ऋषियों, मुनियों, यतियों, तीर्थङ्करों, श्रमणों, सन्तों, सिद्धों की परम्परा के साथ ईसाई और मुस्लिम-हृदय का मेल कठिन है, जबकि बाइबिलीय और कुर्आनी पैगम्बरों आदि के साथ उसके हृदय का योग स्वाभाविक और स्वतःसिद्ध है।

पारसी संस्कृति भी एक विदेशी संस्कृति है, किन्तु वह भारतीय संस्कृति में इस सीमा तक घुलमिल गयी है कि उसकी सत्ता का किसी को भान नहीं होता। आर्यों की भारतीय शाखा से सन्निकटतम शाखा के अवशेष होने और अरबों के आक्रमण से त्रस्त अपने पूर्वजों के भारत में शरण पाने से भारत का उपकार मानने के कारण पारसी हिन्दुओं से क्रमशः अभिन्न होते गये। इस के अतिरिक्त, पारसी अन्यों के पारसीकरण में विश्वास नहीं रखते, अतः वे किसी भी धर्म-सम्प्रदाय के लिए कोई समस्या नहीं बनते। यही कारण हैं कि पारसी राष्ट्रीय संस्कृति से टकराने वाला अथवा बेमेल जीवनादर्श विकसित नहीं कर सके। उन की अस्मिता, कुल मिला कर, उन की उपासना-पद्धति और अन्त्येष्टि-संस्कार में ही प्रकट होती है, और वह भी यदा-कदा और गिने-चुने लोगों पर, क्योंकि भारत में वे बस डेढ़ लाख रह गये हैं और विश्व में भी सम्भवतः अढ़ाई लाख से अधिक नहीं। अतः पारसी-संस्कृति को एक अणुमात्रावस्थायी उपसंस्कृति मात्र का दरजा प्राप्य है।

कहने को तो वन-जन और गिरि-जन भी अपनी संस्कृतियाँ रखते हैं, किन्तु वे इतनी अनद्यतन हैं और विशाल जनजीवन, 'महाजन', से कटी हुई कि उन्हें भी उपसंस्कृतियाँ ही माना जा सकता है।

हमारी संस्कृति पर सब से अधिक प्रभाव पाश्चात्य संस्कृति का पड़ा है, जिसकी विशेषता है आधुनिकता और वैज्ञानिकता। यह आधुनिक-वैज्ञानिक संस्कृति विश्वस्तरीय संस्कृति बनती जा रही है, और सभी संस्कृतियों को निगल जाने के लिए उद्यत। भारतीय संस्कृति पर भी उसके रंग चढ़ रहे हैं, बढ़िया भी और घटिया भी; बढ़िया कम और घटिया अधिक। हमारे राजनेताओं आदि द्वारा यह धारणा फैलायी जा रही है कि संस्कृतियों का सङ्गम सदा श्लाघ्य होता है। उनका तथोक्त सम्मिश्र संस्कृति का अन्धाधुन्ध प्रचार इसी ओर इङ्गित करता है। इक्बाल सुहैल की पंक्ति है—

दरियाओं के सङ्गम से बढ़ कर तहज़ीबों का सङ्गम होता है ।

लोग भूल जाते हैं कि संस्कृतियों का सम्मिश्रण तो दूर उनका सम्पर्क भी कभी-कभी अश्रेयस्कर और घातक हो सकता है ।[10] अतः यदि भारतीय संस्कृति आर्य और इस्लामी आदि संस्कृतियों का सम्मिश्रण हो भी तो यह छानबीन आवश्यक है कि उसका बाह्यमूलीय अङ्ग कहीं विषाक्त अथवा विषात्मक तो नहीं है, कि उससे अन्ततः भारतीय संस्कृति का जीवन ही सङ्कटापन्न हो जाय ?

वस्तुतः इस्लामी संस्कृति भारतीय संस्कृति से मेल-मिलाप करने नहीं उसे मिटाने आयी थी। उसका घोषित तथा आचरित उद्देश्य जेहाद था, जो अवस्थानुसार अपने रूप बदलता रहा। अतः वह भारतीय संस्कृति का अविभाज्य अङ्ग न होकर एक विसंस्कृति अथवा प्रतिसंस्कृति मात्र बनी रही।

जहाँ तक आर्य, मुस्लिम, ईसाई, और पाश्चात्य संस्कृतियों का सम्बन्ध है, इनके समन्वय में किसी सम्मिश्र संस्कृति का जन्म नहीं हुआ। आइए अब यह देखें कि क्या भारत-मूलीय सांस्कृतिक परम्पराओं—हिन्दू, जैन, बौद्ध, लोकायत आदि—की मिली-जुली संस्कृति को सम्मिश्र संस्कृति कहा जा सकता है ?

देखिए, भारत में लोकायत-दर्शन तो कभी चला था, किन्तु लोकायत-संस्कृति नहीं बन पायी। जयन्त भट्ट के अनुसार वह बन भी नहीं सकती थी—

न हि लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदिश्यते ।
वैतण्डिक कथैवासौ, न पुनः कश्चिदागमः ।।[11]

अर्थात् लोकायत कोई आगम नहीं है, क्योंकि उस में मानव-कर्तव्य का विधान नहीं है। अतः वह वितण्डा मात्र है। वस्तुतः लोकायत कुल मिला कर एक 'वैतण्डिक', निषेधमात्रोपजीवी परम्परा के रूप में प्रवृत्त और प्रचलित रहा, उससे किसी जीनव रचना का जन्म नहीं हुआ, उससे संस्कृति की किसी विधा का विकास नहीं हुआ, वह कोई लोक-व्यवस्था नहीं दे सका, लोकायत-दर्शन लोक-दर्शन नहीं बन सका। हाँ, लोकायत की शाखा-विशेष नीलपट-सम्प्रदाय ने एक अपसंस्कृति अवश्य उद्भावित कर ली थी जिस के विषय में कहा गया है—

न नद्यो मदवाहिन्यो, न च मांसमया नगा;
न च नारीमयं विश्वं, कथं नीलपटः सुखी ?[12]

अर्थात् नीलपट तभी सुखी हो सकता है जब नदियाँ सुरा-वाहिनी हो जाँय, पर्वत मांसमय हो जाँय, विश्व स्त्रियों से भर जाय। इस सम्प्रदाय ने समाज की सारी मर्यादाएं तोड़ डाली थीं। अतः भोजराज ने उस का उच्छेद कर डाला।[13]

---

10. इस पर विशेष विचार-वितर्क के लिए द्रष्टव्य—हर्षनारायण, 'प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतियों का सम्मिलन : वरदान या अभिशाप ?,' संस्कृति, 27, 1 (मार्च, 1985), पृ. 32–85
11. जयन्त भट्ट, न्यायमञ्जरी, प्रमाण-प्रकरण, पृ. 247
12. पुरातन-प्रबन्ध-संग्रहः, पृ. 19.
13. शीलाङ्क, सूत्रकृतांग सूत्र भाष्यम्, पृ. 280–281

जैन धर्म-दर्शन भी अपनी कोई सांस्कृतिक अस्मिता नहीं उद्भावित कर सका, जैन मुनि लोक-जीवन के विधि-निषेध से परे होने के कारण संस्कृति-निरपेक्ष कहे जा सकते हैं। जैन-उपासक तो सम्भवतः आरम्भ से आज तक हिन्दू संस्कृति से पृथक् नहीं हो पाये। वस्तुतः जैन-परम्परा में हिन्दू धर्म और संस्कृति के अनेक तत्त्व इस प्रकार सन्निविष्ट हैं कि उसे हिन्दु-धर्म और संस्कृति का अविच्छेद्य अङ्ग मानने के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं रह जाता। उन तत्त्वों की सूची इस प्रकार बनायी जा सकती है— (1) श्राद्ध, तर्पण, (2) हिन्दु-देव-देवियों का जैन-धर्म में प्रवेश, (3) जातिवाद, (4) दानाष्टक, (5) जप-महिमा, (6) अस्पृश्यता, (7) गोमय-लेपन, (8) शुद्धि का अतिरेक, (9) मांसदान और (10) समन्वय-दृष्टि। यह अन्तिम तत्त्व तो हिन्दू धर्म से बहुत कुछ और ग्रहण करने का मार्ग खोल देता है, क्योंकि कहा गया है—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः,
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्। ।।[14]

अर्थात् जैन कोई भी लौकिक मर्यादा स्वीकार कर सकते हैं, यदि सम्यक् दृष्टि की हानि न हो और व्रत-दूषण की प्रसक्ति न हो।

बौद्ध धर्म-दर्शन भी मूलतः तत्त्वतः लोकव्यवस्था-निरपेक्ष, निवृत्तिवादी धर्म-दर्शन है। बुद्ध ने भिक्षुओं का आचार-व्यवहार नियन्त्रित करने के लिए विनय-पिटक दिया, किन्तु उपासकों के लिए कोई व्यवस्था नहीं छोड़ी, कोई धर्मशास्त्र नहीं दिया। और भिक्षु बनाने की प्रक्रिया समाज-निरपेक्षीकरण, संस्कृति-निरपेक्षीकरण की ही तो प्रक्रिया है।[15] वस्तुतः बौद्धों की धर्मशास्त्र-विषयक परमुखापेक्षिता की कतिपय दार्शनिकों ने खिल्ली उड़ायी है। वाचस्पति मिश्र का कथन है कि बौद्धों के पास न तो लोकव्यवस्था के लिए कोई विधान है और न वैयक्तिक तथा पारिवारिक संस्कार के लिए कोई आगम। अतः उन्हें लोक-यात्रा के लिए बरबस श्रुति का अनुसरण करना पड़ता है—'न चैतेषामागमा वर्णाश्रमाचार व्यवस्थाहेतवो, नो खलु निषेकाद्याः क्रियाः श्मशानान्ताः प्रजानामेते विदधति। न हि प्रमाणीकृत बौद्धाद्यागमा अपि लोकयात्रायां श्रुति,स्मृतीतिहास-पुराणनिरपेक्षागममात्रेण प्रवर्तन्ते। अपितु तेऽपि सांवृतमेतदिति ब्रुवाणा लोकयात्रायां श्रुत्यादीनेवानुसरन्ति।'[16] जयन्त भट्ट का कथन है कि वैदिक मर्यादा के प्रभाव में ही बौद्ध आदि चाण्डाल आदि को अस्पृश्य मानते हैं—'बौद्धादयोऽपि दुरात्मानो वेदप्रामाण्यनियमिता एव चाण्डालादिस्पर्शं परिहरन्ति।'[17]

सच पूछा जाय तो समूची श्रमण-परम्परा अनादि, आर्य-परम्परा, हिन्दु-परम्परा

---

14. सोमदेव सूरि, मुनि नथमल का अहिंसातत्वदर्शन, पृ. 175 में उद्धृत

15. विशेष विचार के लिए द्रष्टव्य—हर्षनारायण, श्रामण्य और निर्वाण का लोकव्यवस्था से सम्बन्ध, 'दार्शनिक त्रैमासिक, 23,2 (अप्रैल, 1977), पृ. 99–110

16. वाचस्पति मिश्र न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका 2.1.68 (चौखम्बा), पृ.432

17. जयन्त भट्ट, न्यायमञ्जरी. प्रमाण–प्रकरण, पृ. 243

की शाखा मात्र है।[18] बुद्ध आदि अपनी जीवन-दृष्टि को आर्य-परम्परा के प्रति विद्रोह नहीं बल्कि आर्य-परम्परा की कृतार्थता अथवा परिपूरण की दिशा में एक कदम मानते प्रतीत होते हैं। बुद्ध श्रमणों, ब्राह्मणों, वैदिक ऋषियों, गुणकर्मस्वभावमूलक वर्णव्यवस्था की सदा प्रशंसा ही करते थे। उन्होंने आर्य और दास के भेद का भी कभी अपलाप नहीं किया। इस प्रकार बौद्ध संस्कृति हिन्दु-संस्कृति से भिन्न नहीं मानी जा सकती। यदि बौद्ध संस्कृति, बल्कि पूरी श्रमण-संस्कृति, के नाम पर कुछ है तो उसे उपसंस्कृति मात्र का दरजा दिया जा सकता है।

इस विचारसरणी का फलितार्थ यह है कि हमारी राष्ट्रीय संस्कृति, भारतीय संस्कृति, एक है, जिसे आर्य संस्कृति, हिन्दू संस्कृति, आर्ष संस्कृति, अथवा व्यापक अर्थ में वैदिक संस्कृति कहा जा सकता है। प्राग्वैदिक मनुओं द्वारा पुनः पुनः प्रवर्तित, प्रवाहित, परिपोषित, परिवर्द्धित, और प्रतिसंस्कृत परम्परा होने के कारण इसे मानव संस्कृति की भी संज्ञा प्रदान की जा सकती है। मुन-प्रदर्शित मार्ग पर आरूढ़ रहने की प्रार्थना वेद में भी पायी जाती है—

मा नः पथः पित्र्यान् मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः ।।[19]

अर्थात् देवता हमें मनु के पित्र्य मार्ग से दूर न करें। अस्तु, जैन, बौद्ध, तथा अन्य भारतमूलीय 'अ-हिन्दू,' अथवा हिन्दुत्व-भ्रष्ट संस्कृतियाँ स्वतन्त्र, स्वयंपूर्ण संस्कृतियाँ नहीं कही जा सकतीं। वे हिन्दुत्वोपजीवी होने के कारण उपसंस्कृतियाँ मात्र हैं। जैसा हम कह आये हैं, लोकायत-संस्कृति जैसी कोई सांस्कृतिक परम्परा नहीं प्रतीत होती, और यदि किसी सीमा तक हो भी तो उसे एक उपसंस्कृति से अधिक नहीं माना जा सकता। वर्तमान लोकायत, अर्थात् सेक्युलर, परम्परा अपनी सांस्कृतिक धारा अवश्य विकसित कर रही है, और ऐसा प्रतीत होता है कि अन्ततः वैज्ञानिक विश्व-संस्कृति में विलय उस की नियति है। किन्तु अभी वह हिन्दू संस्कृति से स्वतन्त्र नहीं हो सकती है, उस की उपसंस्कृति के रूप में ही पनप रही है। कहना आवश्यक नहीं कि यह हिन्दू संस्कृति ही है जो इसे प्रश्रय और पोषण प्रदान कर रही है, मूलाग्रही (फन्डामेन्टलिस्टिक) इस्लामी संस्कृति के अन्तर्गत तो इसे जन्म लेते ही अकाल मृत्यु डस लेती, जैसा प्रायः सभी मुस्लिम-शासित देशों में घटित हो रहा है। वस्तुतः हिन्दू संस्कृति की उदारता और सहिष्णुता के संस्कार इसे निसर्गतः ही विश्व-मैत्री की ओर उन्मुख कर देते हैं।

अस्तु, सारांशतः, हिन्दु-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है; इस्लामी और ईसाई संस्कृतियाँ विसंस्कृतियाँ अथवा प्रतिसंस्कृतियाँ हैं; लोकायत-संस्कृति असंस्कृति, अपसंस्कृति, अथवा उपसंस्कृति है; श्रमण-संस्कृति उपसंस्कृति है; और पारसी संस्कृति भी कुछ ऐसी ही है।

वस्तुतः हिन्दू संस्कृति ही राष्ट्र की अभिमानी संस्कृति मानी जा सकती है, और अन्य

---

18. द्रष्टव्य हर्षनारायण, 'श्रामण्य और ब्राह्मण्य की सगोत्रता', कोसल; जर्नल ऑफ दि इंडियना रिसर्च सोसायटी ऑफ अवध, 3,1–2 (जुलाई 1980 और जनवरी 1981), पृ. 7–21.

19. ऋग्वेद-संहिता 8.30.3.

संस्कृतियां अनुशयी मात्र। यह भेद महत्त्वपूर्ण है। शरीर में अनेक जीव निवास करते हैं, जिन से अभिमानी जीव, शरीर को स्वायत्त करने वाला जीव, एक ही होता है, जिसे शरीर के प्रति उत्तरदायी कहा जा सकता है और जिस से ही शरीर तथा शरीर परिभाषित होते हैं। शेष जीव अनुशयी कहे जाते हैं, जिन पर पूरे शरीर का दायित्व नहीं होता।[20] अनुशयी जीवों में से कुछ परोपजीवी मात्र होते है, ये शरीर को लाभ भी पहुँचा सकते हैं, किन्तु हानि नहीं पहुँचाते; जब कि अन्य अनुशयी जीव शरीर के लिए हानिकर सिद्ध होते हैं और उन्हें औषधि आदि के प्रयोग से नष्ट कर डालने में ही भलाई होती है। प्रतिसंस्कृतियां इसी श्रेणी में आती हैं।

हाँ, यह स्पष्ट रहना चाहिए कि जहाँ भारतीय संस्कृति को अन्य संस्कृतियों से किसी सीमा तक प्रभावित और अनुप्राणित होते हुए भी सम्मिश्र मानना असमीचीन है वहाँ भारतीय समाज और सभ्यता को सम्मिश्र मानना ही होगा। और यह भी स्पष्ट रहना चाहिए कि संस्कृति पर सभ्यता का प्रभाव पड़ता ही है, कि कभी-कभी बलवती सभ्यता संस्कृति को परिवर्तित भी कर देती है, और कि बलवती संस्कृति अपनी स्वतन्त्र सभ्यता भी विकसित कर लेती है। आज सभ्याता-भेद के लिए कम ही अवकाश रह गया है। सभी सभ्यताएँ वैज्ञानिक होती जा रही हैं। संस्कृति भी इस से असंस्पृष्ट नहीं रह पा रही है। जो हो, भारतीय संस्कृति अभी भी अपना स्वत्व, अपनी अस्मिता, सँजोये हुए चल रही है। भविष्य में क्या होगा, यह कहना कठिन है।

यह भी ध्यातव्य है कि संस्कृति के दो स्तर देखने को मिलते हैं—अभिजन-संस्कृति और जन-संस्कृति। समाज का नियमन-अनुशासन अभिजन-संस्कृति के हाथ में है, और किसी भी समाज की संस्कृति का प्रतिनिधित्व और रूपायन वही करती है। जन-संस्कृति अपने में नीरूप होती है और उसका किसी भी संस्कृति से सम्मिश्रण सरल होता है। बल्कि विविध जन-संस्कृतियों में भेद बहुत कम होता है। अतः समाज की सांस्कृतिक पहचान अभिजन संस्कृति से बनती है, और हमने आद्यन्त उसी को ध्यान में रखा है।

अब यह तो रही वस्तुस्थिति, पसन्द हो या नापसन्द हो। धर्मकीर्ति लिखता है कि यदि वस्तु को कोई विशेष स्वभाव रुचे तो हम कौन होते हैं—

यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम् ?[21]

हाँ, प्रस्तुत सन्दर्भ में वस्तुस्थिति को बदला जा सकता है। राष्ट्रीय संश्लेषण/एकीकरण/एकात्मीकरण के मूल में यही समस्या है। हमारी संस्कृति उस अर्थ में सम्मिश्र नहीं जिस में हमारे राजनेता हमें समझाने का दम भरते हैं, तथापि सम्मिश्र संस्कृति के विकास के लिए प्रयत्न किया जा सकता है और करना अनिवार्य भी है। समाज तो सम्मिश्र है ही, उस के विविध घटक परस्पर चाहे जितने बेमेल हों उन्हें स्वीकार करना ही है, अतः उन के परस्पर अनुकूलन की योजना बनानी ही होगी, उन की प्रलम्बित अस्मिताओं का

20. तु० शङ्कर, शारीरक भाष्यम् 3.1.24
21. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिकम्

परिसीमन करना होगा, आवश्यकतानुसार उनके भारतीयीकरण-राष्ट्रीयीकरण का पथ प्रशस्त करना होगा। जो घटक भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक परम्परा से कटा प्रतीत हो उसे उन की ओर उन्मुख करना होगा। तदर्थ अनुकूल वातावरण का निर्माण करना होगा, तुष्टीकरण द्वारा नहीं, प्रशिक्षण और धर्म-संस्कार द्वारा। सेक्युलरवाद कुल मिला कर एक निषेधात्मक विचारधारा है, जो प्रस्तुत सन्दर्भ में अप्रभावी सिद्ध होगी।

42/59, रामरत्न वाजपेयी मार्ग,
नरही, लखनऊ–226001

उन्मीलन : वर्ष ३, अंक १–२
जनवरी-जुलाई, १९८७

5

क्या भारतीय संस्कृति सम्मिश्र संस्कृति है ?

प्रश्न पर आगे विचार

यज्ञदेव शल्य

हर्षनारायणजी का लेख हमारे देश की वर्तमान परिस्थितियों में प्रकाश के साथ उष्णता को भी जन्म दे सकता है। किन्तु तब भी हमने इसे प्रकाशनार्थ समझा, क्योंकि उष्णताजनक परिस्थितियों या मनःस्थितियों की उपेक्षा करके नहीं बल्कि उन्हें सामने लाकर ही उनका शमन किया जा सकता है, और विचारकों का यही कर्त्तव्य है।

हर्षनारायण जी ने अपने लेख में ऐसे अनेक उद्धरण दिये हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति भयानक विद्वेष और घृणा थी और उनके शासकों ने हिन्दुओं पर दुर्दान्त अत्याचार किये थे। दूसरी ओर श्री बी. डी. पांडे ने अपनी पुस्तक **इस्लाम एंड इंडियन कल्चर**[1] में ऐसे तथ्य संकलित किये हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि मुसलमान हिन्दुओं के प्रति बहुत प्रेम रखते थे और वे इस देश को अपना देश मानते थे। उन्होंने तथा अन्य अनेकों[2] ने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि हिन्दू और मुसलमान अंग्रेजों के आने से पहले सांस्कृतिक स्तर पर बहुत निकट आ चुके थे और भारत में एक सम्मिश्र संस्कृति का निर्माण हो रहा था।

वास्तव में इतिहास का चित्रपट इतना विशाल होता है कि उसे निकट से और अंशों में देखने पर सब प्रकार के दृश्य लक्षित हो सकते हैं और हम अपनी अपेक्षाओं के अनुसार जैसे भी चाहें चुनकर उन्हें उस इतिहास के निरूपक कह सकते हैं। किन्तु इतिहास का सही स्वरूप वास्तव में चित्रपट को दूर से और उसकी समग्रता में देख कर ही उपलभ्य होता है। दूसरे शब्दों में, इतिहास के स्वरूप-ज्ञान के लिए घटनाओं और व्यक्तियों को नहीं देख कर जन-मानस को देखना उपयुक्त होता है, जो मानस कलाओं, वाङ्मय और लोक-व्यवहार में अपने को अभिव्यक्त करता है। परिणामतः हर्षनारायणजी का तथ्य-प्रस्तुतीकरण हिन्दु-मुस्लिम सम्बन्धों का सही निरूपक नहीं कहा जा सकता; उनकी तुलना में पांडेजी का

---

1. बी. एन. पांडे "इस्लाम एंड इंडियन कल्चर," खुदा बक्श मैमोरियल एनुअल लेक्चर, पटना 1985.
2. डी. पी. मुकर्जी - सोश्योलोजी आँफ इंडियन कल्चर, द्वितीय संस्करण, 1948; 1979 में रावत पब्लिकेशंस् जयपुर द्वारा पुनर्मुद्रित।

प्रस्तुतीकरण अधिक समीचीन कहा जा सकता है और उनसे भी अधिक प्रोफेसर धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी का कहा जा सकता है। किन्तु वास्तव में ये भी बहुत कुछ एक-तरफा ही हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि यह चित्रपट द्वाभात्मक है जिसके सुनहरे रंग अपेक्षाकृत फीके हैं।

किन्तु हर्षनारायण जी के लेख का उद्देश्य इतिहास-निरूपण नहीं है, भविष्यत् है और इसका विषय वैज्ञानिक नहीं होकर मनुष्य होने से उसका कार्य याथातथ्य का प्रस्तुतीकरण नहीं होकर भाव्य का निर्णय और निर्धारण है। इसलिए यहां हमें इस प्रश्न पर अतीत-संग्रही दृष्टि के बजाय भाव्योन्मुख दृष्टि के साथ ही विचार करना चाहिए। और इस दृष्टि के लिए अतीत से निर्धारण नहीं अतीत से स्वातंत्र्य अपेक्षित होता है।

यहां आपत्ति की जा सकती है कि यह स्वातंत्र्य वैयक्तिक स्तर पर तो संभव है किन्तु सामाजिक स्तर पर संभव नहीं है। समाज अपने अतीत से, अपने निर्धारणों से मुक्त नहीं हो सकता, परिणामतः सामाजिक कर्म सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता। किन्तु यह सही नहीं है, समाज-सुधारक और क्रांतिकारी प्रस्तुत स्थिति के निषेध के साथ ही आरंभ करते है। स्वयं स्वातंत्र्योत्तर भारत ने भी अपने भविष्यत् की आधारशिला, कम से कम प्रस्तुत प्रश्न की दृष्टि से, प्रदत्त अतीत के निषेध, उससे स्वातंत्र्य, पर ही प्रतिष्ठित की थी। उसका प्रस्तुत यथार्थ यह था कि हिन्दुओं के सब प्रयत्नों के बावजूद मुसलमानों ने हिन्दुओं से अलग रहने का निर्णय किया था और परिणामतः उनके रहने के लिए पाकिस्तान का निर्माण हुआ था। ऐसी परिस्थिति में हिन्दू भावी भारत की प्रतिष्ठा हिन्दु-राष्ट्रवाद की आधारशिला पर भी कर सकते थे। किन्तु हिन्दुओं ने वह नहीं किया। यहां मैं कहना चाहूंगा, ऐसा वे कर भी नहीं सकते थे। यह उनकी सांस्कृतिक प्रकृति के प्रतिकूल होता। ऐसा नहीं है कि हिन्दुओं में कठमुल्ले नहीं हैं, सब समुदायों में सब प्रकार के लोग होते हैं, आज भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं में "वीर शिवाजी" और "महाराणा प्रताप" के नाम की उठक-बैठकें लगायी जाती हैं, सती-प्रथा के समर्थक आपको मिल सकते हैं, किन्तु ये उसी प्रकार हिन्दु-मानस के प्रतिनिधि नहीं हैं जिस प्रकार ख़ान अब्दुल ग़फ्फ़ार खां, ज़ाकिर हुसैन, शेख़ अब्दुल्ला और मौलाना आज़ाद मुस्लिम मानस के प्रतिनिधि नहीं हैं। इसलिए जो लोग हिन्दुत्व पर गर्व करते हैं उन्हें हिन्दुत्व के उस ऐतिहासिक निर्णय पर गर्व करना चाहिए जो उसने 1947 की विपरीत परिस्थितियों के बावजूद किया था और यह समझना चाहिए कि कर्त्तव्य-विषयक कोई भी निर्णय उस मनुष्य के लिए सर्वदा के लिए प्रतिबन्धक होता है जो स्वातंत्र्य का मूल नैतिकता में देखता है। यहां कोई आपत्ति कर सकता है कि हमने उपर्युक्त निर्णय को हिन्दु-निर्णय क्यों कहा जबकि देश की जन-संख्या का बहुत बड़ा भाग अहिन्दू था। इसका उत्तर यह है कि मुस्लिम भारत उस समय इस निर्णय में सह-भागी होने का अधिकार खो चुका था, ईसाई आदि की संख्या नगण्य थी, शेष सब—बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि-उतने ही हिन्दू हैं जितने यज्ञोपवीत और चोटी-धारी ब्राह्मण हिन्दू हैं। हिन्दू की हमारी परिभाषा है, जिसकी सांस्कृतिक परंपरा भारत-मूलीय है, वह मूल चाहे प्रतिज्ञा के रूप में हो और चाहे प्रति-प्रतिज्ञा के रूप में। इस प्रकार लोकायत उतने ही हिन्दू

हैं जितने मीमांसक, तब बौद्धों-जैनों आदि की तो बात ही क्या है। हिन्दू की इस परिभाषा से हर्षनारायण जी के इस प्रतिपादन का भी सहज निराकरण हो जाता है कि लोकायतों, बौद्धों आदि की कोई अपनी आचार-संहिता नहीं होने से उनकी कोई अपनी संस्कृति नहीं बन पायी। इस बात का कोई अर्थ नहीं है, आचार-संहिता हिन्दु-समाज की थी जिस में वैदिक, बौद्ध आदि मत-मतान्तर थे। वास्तव में इस मूल को वैदिक नहीं कह कर भारतीय कहने का औचित्य यही है कि बहुत से लोग श्रमण-परंपरा को अवैदिक मानते हैं। ब्राह्मण और श्रामण्य-धाराओं को परस्पर प्रतिज्ञा-प्रतिप्रतिज्ञा के रूप में एक मूल में भी संगृहीत किया जा सकता है, और वास्तव में कोई भी जीवित संस्कृति इस प्रकार द्वन्द्वात्मक होती है और यह द्वन्द्व क्रमशः असंख्य धाराओं-उपधाराओं को जन्म देता है। बाहरी प्रभाव भी इस प्रक्रिया में अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं और एक ही मूल धारा की उपधारा बन जाते हैं। जो समुदाय मूलधारा में समंजस नहीं हो पाते वे पृथक् और अवरुद्ध पड़े रहते हैं क्योंकि वे अपनी मूल धारा से भी कट जाते हैं। भारतीय मुस्लिम समुदाय के बहुत विशाल होने के बावजूद इसके साथ भी यही हुआ है, चाहे पार्सियों के जितना नहीं भी हुआ हो। यह समुदाय जब तक भारतीय मूल से अपने को एक प्रतिज्ञा के रूप से सम्बद्ध नहीं करता, यह सांस्कृतिक रूप से प्रवहमान् धारा नहीं बन सकता।

इसका अर्थ हुआ कि हम भी यह स्वीकार करते हैं कि भारत में हिन्दु-मुस्लिम सम्मिश्र संस्कृति का निर्माण नहीं हुआ है। किन्तु इसके साथ हम एक दूसरी बात भी कह रहे हैं और वह यह कि यह सम्मिश्र संस्कृति भारतीय-परंपरा के अंतर्गत ही बन सकती है, और यदि यह नहीं बनती तो यह भारतीय मुस्लिम समुदाय के हितों के भयानक रूप से विरुद्ध होगा, और इस प्रकार भारत के हितों के भी विरुद्ध होगा। किन्तु दूसरी ओर हिन्दुओं को भी यह समझना है कि कठमुल्लापन, अनुदारता, वीर शिवाजी के नाम की उठक-बैठकें न केवल उनके सांस्कृतिक विकास में अवरोधक होंगी, न केवल मुस्लिम समुदाय के उसके निकट आने में बाधक होंगी, बल्कि ये स्वयं उसकी अपनी प्रकृति के, अपनी परंपरा के भी विरुद्ध होंगी। ये एक ओर मुस्लिम-मानस को उसकी निकृष्ट मानसिकता में दृढ़ करेंगी, दूसरी ओर स्वयं उसे भी निकृष्ट मानसिकता में स्थापित करेंगी।

यहां संक्षेप में यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना भी अस्थाने नहीं होगा। अंग्रेजों ने भारतीयों के साथ कोई कम अत्याचार नहीं किये, हिन्दुओं के साथ संभवतः मुसलमानों से अधिक ही किये। किन्तु यूरोपीय संस्कृति से हम केवल संवाद स्थापित करने को ही तैयार नहीं थे, हमने यूरोप की सांस्कृतिक दासता भी सहर्ष स्वीकार की और अंग्रेजों के चले जाने के बाद और भी उत्साह से कर रहे है। यहां तक कि हम हिन्दुत्व और मुस्लिमत्व में लज्जा और अंग्रेजियत में गर्व का अनुभव करते हैं, उनके फूहड़पन को भी संस्कृति मानते हैं। तब हिन्दुओं का मुस्लिमों के प्रति और मुस्लिमों का हिन्दुओं के प्रति विपरीत-भाव केवल अस्वस्थ मानसिकता का ही द्योतक कहा जा सकता है। इसलिए हमें इस मानसिकता का त्याग कर एक स्वस्थ भारतीयता के विकास में सम्मिलित होना चाहिए न कि प्रतिगामी कठमुल्लापन को अपनाना चाहिए। यदि हिन्दुओं ने उर्दू-शायरी को और मुसलमानों

ने भारतीय शास्त्रीय संगीत को अपनाया है तो इससे भारतीय साहित्य और संगीत समृद्ध ही हुए हैं, विपन्न नहीं। किन्तु यह सम्मिश्रण संभव केवल तभी है यदि मुसलमान कुरान को हिन्दुओं को सौंप दें और हिन्दू उसे अपने वाङ्मय का अंग बना लें और दोनों कुरान और गीता पर विचार-वितर्क करें जैसे भारतीय लोकायत वैदिक ग्रंथों पर और ब्राह्मण लौकायतिक और बौद्ध ग्रंथों पर विचार-वितर्क करते थे, और तब एक ही परिवार में कुरान या गीताके वैसे ही अनुयायी और आलोचक हो सकें। यह बात आज स्वप्न जैसी लगती है क्यों कि हम परस्पर वैमनस्य की आग में जल रहे हैं, नहीं तो यह नितान्त स्वाभाविक बात है। अधिकांश हिन्दुओं (बौद्ध, जैन, सिक्ख सहित) के घरों में माता-पिता राम-कृष्ण के भक्त मिलेंगे और बच्चे यूरोपीय संस्कृति या असंस्कृति के अनुयायी, कुछ मुस्लिम घरों में भी ऐसा होगा। हम में अधिकांश अपने बच्चों को ईसाइयों के अंग्रेज़ी-माध्यम वाले स्कूलों में पढ़ाने में गर्व करतेहैं स्वयं चाहे गीता और रामायण का पाठ ही करें। सच बात यह है कि अंग्रेजि़त का यह आकर्षण भी हमारी जड़ता के कारण ही है, यह एक दूसरे प्रकार का कठमुल्लापन है जिसके सम्बन्ध में मैं अनेक लेखों में लिख चुका हूँ। अथवा यह भी कह सकते हैं कि हिन्दु-मुस्लिम वैमनस्य और अंग्रेजियतानुराग दोनों का मूल हमारी एक ही जड़ मानसिकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं यूरोपीय संस्कृति का विरोध कर रहा हूँ, मैं वास्तव में उसे तीन उत्कृष्टतम जीवित संस्कृतियों (भारतीय, चीनी और यूरोपीय) में से एक और संप्रति शेष दो की अपेक्षा कहीं अधिक जीवंत और प्रगतिशील मानता हूँ। विरोध केवल उसके प्रति हमारी अंधानुसारिता का कर रहा हूँ। अस्तु।

मुसलमानों और हिन्दुओं के एकीकरण में एक मुख्य बाधा उनकी आचार-संहिताओं में अन्तर है। आचार-संहिता का मूल परंपरा होती है जो पीछे शास्त्र का रूप भी ले लेती है। किन्तु शास्त्र के समान परंपरा का कोई प्रतिष्ठापक नहीं होता और इस अर्थ में वह अनादि होती है। स्वभावतः व्यवहार में इसका रूप गतानुगतिकता, यथापूर्वन्ता का होता है। इस कारण इसमें सृजनात्मकता और विचार के लिए कोई स्थान नहीं होता। किन्तु आचार का संबन्ध औचित्य और नैतिकता से भी उतना ही होता है, जिनका मूल विचार, बोध और युक्ति है। आचार का यह पक्ष ही परंपरा को भी सृजनात्मक और विकासमान् बनाता है। परंपरा और संहिता का औचित्य से विरोध होने पर उन्हें ही त्याज्य माना जाता है, यह बात दूसरी है कि अधिकांशतः हम इस बोध का ग्रहण नहीं करते और जागृत रहने का जोखम नहीं उठाना चाहते। किन्तु वास्तव में आचार का विधान परंपरा और संहिता को सौंपने के पीछे धारणा यही होती है कि उचित-अनुचित का तत्त्व साधारण मानव-बुद्धि के लिए अगम्य है— निहितं गुहायांम्—इसलिए असाधारण बुद्धि-संपन्नों के द्वारा रचित शास्त्र और परिशोधित परंपरा का अनुसरण अपनी बुद्धि के अनुसरण से अधिक निरापत्तिक है। यह बात बहुत कुछ ठीक भी है, किन्तु उसी सीमा तक जहां तक हम स्वयं विचार के अयोग्य हों। विचारवान् तो परंपरा को विचार के साथ ही स्वीकार या अस्वीकार करते हैं। अवश्य व्यक्ति सदैव केवल स्वयं से सम्यक् निर्णय नहीं कर सकता, उसमें परंपरा और अन्यों से परामर्श सहायक होते हैं, किन्तु परंपरा भी अपरीक्ष्य रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकती।

परंपरा की स्वतःप्रामाणिकता इसी बात से असिद्ध है कि परंपराएं अनेक और बहुत बार परस्पर विरुद्ध भी होती हैं। इस पर कहा जा सकता है कि विचार भी अनेक और परस्पर विरुद्ध पाये जाते हैं। इसका यहां इतना ही उत्तर देने के लिए अवकाश है कि परस्पर विचारविमर्श और वितर्क की संभावना विचार की सार्वभौमिक प्रकृति की द्योतक है, यह बात दूसरी है कि उसमें हम व्यक्तिगत सीमाओं का कहां तक अतिक्रमण कर पाते हैं। इस प्रकार आचार का अनुशास्ता वास्तव में निर्वैयक्तिक औचित्य-विचार ही है और स्वयं परंपरा भी इस विचार की परंपरा के रूप में ही ग्राह्य होती है। किन्तु यदि हम परंपरा को यह विचार छोड़ कर अपनाते हैं तो न केवल परंपरा को सृजन-हीन, जड़ और सांप्रदायिक ही बनाते हैं बल्कि स्वयं परंपरा के अपने तत्त्व के विरुद्ध भी जाते हैं।

हिन्दुओं में विचार की यह प्रवृत्ति रही है। अवश्य यहां श्रुति को प्रमाण मानने वाले लोग भी रहे हैं, किन्तु वे सब देशों और सब कालों में रहते हैं। किन्तु यहां श्रुति-प्रमाण की चर्चा वास्तव में उसे युक्ति-तर्क द्वारा परीक्ष्य बनाने के लिए थी : श्रुति-प्रमाण-समर्थक इसे इस रूप में ही प्रस्तुत करते थे कि 'यह प्रमाण है तो क्यों ?' और तब स्वभावतः दूसरों के लिए यह अवकाश था कि वे इसे चुनौती दे सकें। किन्तु यदि हम कुरान, बाइबिल या विट्गिंस्टाईन को इस प्रश्न के बिना ही प्रमाण मानकर चलें तो उसकी परीक्षा के लिए अवकाश कहां रह जाता है ? मुसलमानों और ईसाइयों में, मुसलमानों में विशेष, इस आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं है। यह मानसिकता उन्हें अन्य किसी भी बात से अधिक अभारतीय बनाती है। (यहां हिन्दुओं के ही एक संप्रदाय सिक्ख-पंथ को चेतने की आवश्यकता है जो इधर विचार के प्रति असहिष्णु हो रहा है।) किन्तु यह मानसिकता स्वयं उनके अपने लिए भी घातक है। यह इस संप्रदाय को कभी विकसित नहीं होने देगी। किन्तु कोई कारण नहीं है कि भारतीय प्रशासन, जोकि भारतीय राज्य का प्रतिनिधि और निष्पादक है, इस मानसिकता को संरक्षण दे और दूसरों को स्वतंत्र आलोचना के अधिकार से इस लिए वंचित करे कि कोई संप्रदाय इस स्वतंत्रता के प्रति असहिष्णु है। उसका कर्त्तव्य इस संप्रदाय या संप्रदायों को शिक्षित करना है, दूसरों को उनकी शिक्षा से वंचित करना नहीं।

यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या कोई व्यक्ति कुरान, विनयपिटक या ग्रंथ-साहिब की आलोचना कर के भी मुसलमान, बौद्ध, या सिक्ख रह सकता है ? इसका एक उत्तर यह है कि यदि राणा सांगा दाहिनी ओर की आँख, बांह और टांग कट जाने पर, अथवा देवदत्त अपने विचारों में आमूल परिवर्तन हो जाने पर भी वही व्यक्ति रह सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि ये कुरान आदि की कुछ बातें अस्वीकार कर क्यों मुसलमान आदि नहीं रह सकते ! किन्तु इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी धर्म या संस्कृति के दो पक्ष होते हैं जिनमें से एक को निरपेक्ष और मौलिक कहा जा सकता है और दूसरे को सापेक्ष और बाह्य। निरपेक्ष पक्ष विश्वदृष्टि-विषयक, अथवा कहें ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति के स्वरूप और सम्बन्ध-विषयक होता है और बाह्य पक्ष सामाजिक सम्बन्धों विषयक होता है। इसका स्पष्टतम उदाहरण वेदान्ती हैं जो मनुष्य का स्वरूप निरुपाधिक चैतन्य मानते हैं और

इस प्रकार वर्ण, कुल आदि को उपाधियों की भी उपाधियां मानते हैं किन्तु तब भी वर्ण-व्यवस्था का कट्टरता से पालन करते हैं। अब, यदि कोई इस आचार-संहिता का औचित्य की दृष्टि से निषेध करता है तो उसके वेदांती होने में न केवल कोई आँच नहीं आती बल्कि यह निषेध उसकी मूल दृष्टि से अधिक संगत भी होता है। यही बात मुसलमानों के सम्बन्ध में भी है। वे यदि स्त्री को रूह और व्यक्तित्व से युक्त मान कर उसके प्रति तदनुरूप व्यवहार करें तो इससे उनका आचरण स्वयं कुरान की मूल दृष्टि से अधिक संगत होगा, चाहे कुरान की आचार-संहिता के अनुसार नहीं भी हो। कुरान से विसंगत वास्तव में कुरान-प्रतिपादित आचार-संहिता है जिस में स्त्री को उसका व्यक्तित्व, उसकी विषयिता, उसकी रूह से वंचित किया गया है।[3] यह वैदिकों द्वारा कुछ व्यक्तियों को शूद्र घोषित करने और स्त्रियों के लिए विधवा-विवाह-निषेध, और सबसे बढ़कर मृत पति के साथ जीवित पत्नी का जला डालने जैसा ही जघन्य है, चाहे उनके बराबर जघन्य नहीं भी हो।

किन्तु यहां प्रसंग आचार-संहिताओं पर विचार करना नहीं है, यहां केवल यह देखना अभिप्रेत है कि आचार-संहिता किसी धर्म या संस्कृति की न केवल आत्मा नहीं होती, यह उसकी आत्मा से विसंगत भी हो सकती है। सबसे आधारभूत बात है अपने धर्म-संप्रदाय के निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों पक्षों के सम्बन्ध में औचित्य और अनुभव के आधार पर युक्ति-तर्क को स्वीकार करना और दूसरे, आचार-संहिता को धर्म का तत्त्व नहीं मानकर उसके प्रति निराग्रही होना। यह मूलभूत बात यदि हम समझ सकते हैं तब कोई दिक्कत ही नहीं है, यदि नहीं समझ सकते तो खुद खुदा भी हमारी रक्षा नहीं कर सकता। किन्तु ऐसे लोगों को एक बात और समझ लेनी चाहिए—हमारा राज्य (स्टेट) औचित्य और युक्ति-मूलक इसी दृष्टि पर प्रतिष्ठित है—प्रजातंत्र, ऐतिहासिक रूप से वंचित जातियों को विशेष सुविधाएं और धर्म-निरपेक्षता आदि इसी दृष्टि की अभिव्यक्तियां हैं। ऐसी अवस्था में यदि कोई इस दृष्टि को स्वीकार नहीं करता तो उसे इस राज्य से उन सुविधाओं की अपेक्षा करने का भी कोई अधिकार नहीं रहता जो इस दृष्टि से ही निस्सृत होती हैं। भारतीय राज्य के इस दृष्टि पर आधारित होने पर संप्रदाय-भेद और इस प्रकार अल्पसंख्यकता-बहुसंख्यकता का भी कोई अर्थ नहीं रहता। इसके लिए वर्गीकरण के केवल दो आधार रह जाते हैं: एक दृष्ट्यनुसारिता-दृष्ट्यननुसारिता का और दूसरा शोषक-शोषितता का। किन्तु खेद है कि हम इस दृष्टि का अनुसरण नहीं कर रहे हैं, वास्तव में राजनीतिज्ञ और प्रशासक लोग इस दृष्टि से उतने ही विपरीत-गामी हैं जितने जनसाधारण, जिनका नेतृत्व ये लोग करते हैं।

पी-52, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड, जयपुर-302015

---

3. यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि मैंने कुरान का अध्ययन नहीं किया है और न उसकी आचार-संहिता से परिचित हूं। यहां मैं पुरुष के बहु विवाह की अनुमति और तलाक आदि विषयक उन विधानों की ओर संकेत कर रहा हूं जिनकी इधर बहुत चर्चा हुई है। वे कहां तक कुरान-सम्मत हैं यह उसके समकालीन प्रतिपादक जानें।

उन्मीलन : वर्ष ३, अंक १–२
जनवरी-जुलाई, १९८७

विमर्श

सांख्य-वेदान्त वाद-विवाद : कुछ विचार

'उन्मीलन' के जन. १९८६ के अंक में शांङ्कर वेदान्त की सांख्य सम्बन्धी भूमिका का जो समर्थनात्मक स्पष्टीकरण मैंने प्रस्तुत किया था उसे जुलाई ८७ के उन्मीलन में प्रकाशित 'द्राविड़जी के आक्षेपों का उत्तर' इस शीर्षक की टिप्पणी के संदर्भ में अत्यंत सावधानी से पढ़ने पर भी ऐसा नहीं प्रतीत हुआ कि मेरे वेदान्त या शाङ्कर भूमिका के समर्थन में कोई विशेष त्रुटि है। तथापि कुछ संभ्रम पैदा हुआ सा लगता है। विदुषी लेखिका के इस कथन पर से कि उनका उत्तर देने का प्रयास 'विचार-प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से किया गया है'—मैं यह स्वीकार कर लेता हूं कि उक्त संभ्रम आहार्य नहीं है। लेखिका ने जितनी भी विवादास्पद बातें अपने लेख में उपस्थित की हैं उन सबका सर्वंकष समाधान, पुनरुक्ति की संभावना होते हुए भी, यहां मैं संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत कर रहा हूं। यदि इससे भी लेखिका को संतोष न हो तो इस विषय को सम्मुखीन चर्चा—यदि वह कभी घटित हो—के लिये छोड़ देना ही मैं उचित समझूंगा।

प्रथम विवाद्य विषय वेद या शब्द-प्रामाण्य की सांख्य द्वारा स्वीकृति है। इस सम्बन्ध में मैंने जो जो बातें पहले कही हैं उनको साग्रह दुहराना ही मुझे पर्याप्त प्रतीत होता है, क्योंकि इनमें से एक का भी लेखिका ने ठीक प्रतिवाद नहीं किया है। पहले, वेदों को त्रैगुण्य विषय सूचित करना, वैदिक-यज्ञीय हिंसादि कर्म को अशुचि बताना, या वैदिक कर्मकांड को सातिशय मानना वेदों की प्रमाणता का किसी भी प्रकार बाधक नहीं है, यह सांख्य को अभिप्रेत है। इनमें से कुछ बातें तो वेद को प्रमाण मानकर ही ज्ञात हो सकती हैं। दूसरे, 9 वीं कारिका में सत्कार्यवाद एवं 22वीं में प्रकृति से लेकर महाभूतादि तक विश्व की सृष्टि का क्रममात्र निर्दिष्ट किये गये हैं। जैसे एक अन्य कारिका में प्रकृति के लिये कुछ तर्क दिये गये हैं वैसा एक भी तर्क इस क्रम के साधनार्थ नहीं दिया गया है। यह संभव भी नहीं है। महाभूत तथा इंद्रियों में जो विशेषतायें उपलब्ध हैं उन पर से ही उनके कारणों का अनुमान संभव है (जैसे प्रकृति का अनुमान) किन्तु महाभूतादि दृश्य पदार्थों के पीछे एक अदृश्य कारण-परम्परा है और उसमें भी तन्मात्र, अहंकार, महत्, प्रकृति ऐसा

क्रम है यह बात किसी तर्क से सिद्ध नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु स्पष्ट कहते हैं — 'अत्र प्रकृतेः महान्, महतोऽहंकारः इत्यादि सृष्टिक्रमे शास्त्र एवं प्रमाणम्।' हिरियन्ना के शब्दों में "……किन्तु आगे महत् आदि के प्राकृतिक विकास-क्रम के मध्यवर्ती स्तरों के रूप में प्रतिपादन से, जोकि सांख्य-योग को अन्य दर्शन-संप्रदायों से पृथक् करता है, ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्प्रदाय का स्रोत अन्यों से भिन्न है……यह स्रोत उपनिषद् हैं।"[1] अर्थात् ये तथ्य उपनिषत् से ही ज्ञेय हैं। इसी बात को राधाकृष्णन् भी कहते हैं: "सांख्य-सम्प्रदाय के विशिष्ट तत्त्व प्रकृति से तर्कतः निगमनीय नहीं हैं… …किन्तु इसका अर्थ है दार्शनिक व्याख्या की संभावना को त्याग देना।"[2]

तीसरे, शब्द को एक स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार करना, जैसा मैंने विस्तार से प्रतिपादित किया था, सांख्यमत से वेद-प्रामाण्य-पुरस्कार का सुस्पष्ट प्रमाण है। उपनिषदों के कुछ वाक्यों का आधार लेकर सांख्यकार सृष्टि-क्रम का विवेचन करते दिखाई देते हैं जिसके कारण यह दर्शन महाजन-परिगृहीत हुआ है। इस कारण भी ब्रह्मसूत्र में इस दर्शन के श्रुत्यसंमत होने की बात स्पष्ट की गयी है।

वेद-प्रामाण्य-स्वीकृति से सांख्य अदार्शनिक हो जाता है, यह बात नहीं है। वेद या उपनिषत्-वाक्य आध्यात्मिक अनुभव के वाहक या माध्यम हैं अतः इनको प्रमाण मानना तर्क से अनुभव को वरीय मानना ही है। तर्क इस अनुभव के स्वरूप-निर्धारण में सहायक हो सकता है, तर्क अनुभव विरुद्ध नहीं होना चाहिये इसी बात पर शङ्कर का आग्रह है। तर्क की कितनी विधायें अथवा कहिये कार्य हो सकते हैं और उनमें कौन से ग्राह्य या अग्राह्य हैं, इसकी मैंने पूर्व लेख में विस्तार से चर्चा की है।

इसके बाद कांट और बौद्धों के दृष्टि-भेद के सम्बन्ध में मेरे इस कथन पर—'आरोपित विकल्प को सहायता से वस्तुसत् की प्राप्ति होती है……कांट के अनुसार वस्तुसत् का बौद्धिक आकारों से कदापि आकलन नहीं हो सकता' लेखिका कहती हैं "उनकी (अर्थात् मेरी) आपत्ति दिङ्नाग के पक्ष से तो सही है किन्तु वसुबंधु और नागार्जुन के पक्ष से सही नहीं है।' वसुबन्धु विज्ञानवादी हैं अतः विज्ञान को ही वस्तु-सत् मानते हैं, किन्तु विज्ञान उनके लिये स्वयं विदित ही है अतः उसका अज्ञात होना असंभव है। नागार्जुन के विचार से वस्तुसत् (जो चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य है) की बात करना ही व्यर्थ है।

अब प्रकृति के जड़-चेतन भाव के प्रश्न पर लेखिका ने जो स्पष्टीकरण दिया है उसका विचार करें। उनके विचार में प्रकृति जड़ है और चेतन भी किन्तु उसमें

---

1. But the further referance to Mahat etc., as intermediate stages in the evolution which distinguishes the Sankhya-Yoga, suggests that it is to be traced to a different source, we shall see …. that source to be the upanishads." (H. of I.P., 10 th. Impression, p.p. 278-79)
2. The different principles of the Sankhya-system cannot be logically deduced from Prakriti……but this is to surrender the possibility of phil osophical explanation. (HI.p. 1948. p.274)

चैतन्य नहीं है जो पुरुष मात्र का धर्म है। जड़ का अर्थ भौतिक नहीं है, अतः प्रकृति जड़ होते हुए भी भौतिक है, ऐसा समझना आवश्यक नहीं है। मेरे तथा कुछ अन्य दार्शनिकों के एतत्संबंधी विचारों पर लेखिका ने विस्मय प्रकट किया है। विस्मय तो हमें प्रकट करना चाहिये कि एक महत्त्वपूर्ण समस्या को, एक अप्रस्तुत विभेद को (जड़-भौतिक के) सामने लाकर तथा एक वास्तविक भेद को अपलपित कर वे समाप्त कर देना चाहती हैं। समस्या है अचेतन प्रकृति द्वारा भोगापवर्ग की संपादक प्रवृत्ति के उपपादन की। इसके सुलझाने में जड़-भौतिक भेद के विचार का क्या उपयोग है? प्रकृति भौतिक होने या न होने से उसकी चेतन-सदृश क्रिया-प्रतिक्रियाओं का स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता। वह प्रकृति को चेतन मानने से ही संभव है। यदि ऐसा मान लें तो दो प्रकार की चेतनायें माननी होंगी जो नितान्त अनुपयुक्त है। वेदान्ती तथा सांख्यकार भी चेतना को एक ही मानते हैं। व्यावहारिक चेतना पुरुष-चैतन्य (वेदान्त-मत में ब्रह्मचैतन्य) का वृत्ति उपहित या बुद्धि में प्रतिबिम्बित परिच्छिन्न रूप ही है। यदि प्रकृति में प्रवृत्त्युपयोगी चेतना अपनी ही मान ली जाय तो उसे पुरुषोपराग की कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी। प्रकृति की अवधारणा का यही सबसे बड़ा दोष है कि उसके अनुसार प्रकृति पूर्णतया चेतन के समान क्रियाशील होते हुए भी स्वयं चेतन न होकर पुरुषोपराग की अपेक्षा रखती है और यह अपेक्षा वास्तव में कभी पूर्ण नहीं हो सकती।

आगे चलकर प्रकृति-घटक प्रत्येक गुण परिमित होने से प्रकृति को भी परिमित होना चाहिये इस शाङ्कर युक्ति पर लेखिका प्रतिवाद करती है कि "यह प्रकृति के लिए सही नहीं है जिस प्रकार यह घट-पट आदि के लिये है"......प्रकृति इस प्रकार कल्पित नहीं है कि त्रिगुण परस्पर पृथक् हो सकें (पृ. 136)।" ध्यान रहे कि उक्त युक्ति गुणत्रय की परिमितता पर आधारित है न कि उसकी पृथक्ता पर। (पृथक्ता पर आधारित होने पर भी युक्ति का समर्थन संभव है।) अब यह सभाव्य है कि गुणत्रय की परिमिति घटादि की परिमिति से इतनी भिन्न हो कि उस पर से प्रकृति के कारण की अनुमिति अनिवार्य न हो। यदि ऐसी बात होती तो 'परिमित' शब्द का सांख्य इस सम्बन्ध में प्रयोग ही न करता तथा इस परिमिति विशेष के स्वरूप का वह स्पष्टीकरण करता। ज्ञात परिमितता स्थल, काल, गुणादिकृत होती है जो घटपटादि-साधारण ही है।

सर्वाधिक विस्मयकारक कथन विवाद्य लेख में वह है जो लेखिका के इस वाक्य से शुरु होता है-"जहां तक निमित्त और उपादान में व्यामिश्र का प्रश्न है, सांख्य स्वयं ही बुद्धि को जगत् प्रवर्तन का कारण मानता है.........." पूर्वतन लेख में लेखिका ने शङ्कर पर आरोप लगाया है कि वे "उपादान और निमित्त में व्यामिश्र का सहारा ले रहे हैं।" मैंने शङ्कर के समर्थन में प्रतिपादन किया था कि प्रवृत्ति अनादि की हो या सादि की उसका कोई कारण तो होना ही चाहिये।......... बुद्धि को प्रवृत्ति का आधार कह सकते हैं..........तब सभी जड़ पदार्थों को स्वतःप्रवर्तमान् मानना होगा।" इस पर प्रस्तुत लेख में लेखिका ने प्रतिवाद करते हुए कहा है—"सांख्य स्वयं बुद्धि को ही जगत्-प्रवर्तन का कारण मानता है। यद्यपि स्वयं बुद्धि को भी कारण की आवश्यकता है, वह कारण जगद्दृष्टि से अविद्या है

और पारमार्थिक दृष्टि से परार्थ।" क्या मतलब है इस कथन का? सांख्य तो जगद् (या व्यावहारिक) दृष्टि तथा पारमार्थिक दृष्टियों में वेदान्त के समान फर्क नहीं करता। उसके लिये तो जगत् सत्य है। अविद्या या प्रकृतिगत बुद्धि प्रवृत्ति-कारक हो तो वही सब दृष्टियों या अवस्थाओं में भी प्रवृत्तिकारक होगी। यदि वह किसी एक अवस्था में (या दृष्टि से) प्रवर्तन-समर्थ नहीं तो सर्वदैव वह असमर्थ ही रहेगी।

शङ्कर की छठी आपत्ति पर, कि निरपेक्ष पुरुष के योगापवर्गार्थ प्रकृति की प्रवृति की बात अर्थशून्य है लेखिका ने समाधान के रूप में शल्य जी के लेख से यह कथन उद्धृत किया है "शंकर की आपत्तियाँ सांख्य पर तभी लागू हो सकती हैं यदि पुरुष और प्रकृति को दो सिद्ध वस्तुएं मान लिया जाय जबकि सांख्य के लिये ये जो····अन्वेष्य स्थितियां हैं।····" इस कथन का मैंने जो प्रतिवाद किया है वह यह है कि सांख्य-पुरुष स्वतः सिद्ध प्रकृति को भी वैसा ही तत्त्व मानता है। इन दोनों को असिद्ध मानने का अर्थ होगा कि पुरुष और प्रकृति दोनों अनित्य तत्त्व हैं जिनका क्रमशः निर्माण या विकास घटित हो रहा है। सांख्य पर इस मत का आरोपण कर उसका समर्थन करना कहां तक उचित होगा यह कहने की आवश्यकता नहीं।

सातवीं आपत्ति को स्पष्ट करते हुए मैंने जो प्रश्न उठाया है कि········'स्वयंपूर्ण प्रकृति के लिये पुरुष के सहयोग की क्या आवश्यकता है?' उस पर लेखिका कहती हैं कि ············"संसार का अस्तित्व, आत्म-साक्षात्कार करना········स्वतःसिद्ध को परतःसिद्ध करना है········"इनमें से एक भी बात लौकिक सम्बन्धों की पदावली में नहीं समझी जा सकती। प्रकृति को पुरुष-सहयोग की आवश्यकता के स्वरूप को समझाने के लिये लेखिका कहती है··········"मिट्टी स्वयं से घट नहीं बन सकती और न घट उठकर चल सकता है।" इस पर से यही सूचित होता है कि जैसे मिट्टी में घट बनाने के लिये अपेक्षित विशिष्ट प्रकार की क्रिया घटित करने का न सामर्थ्य है न ज्ञान वैसे ही प्रकृति में भी ऐसा सामर्थ्य या ज्ञान —आत्म-साक्षात्कारार्थ भी—नहीं है। पुरुष के संपर्क से ही यह ज्ञान या सामर्थ्य उसमें प्रकट हो सकता है। यदि किसी अन्य ढंग से प्रकृति-पुरुष-सम्बन्ध मूल दर्शन की भूमिका पर आघात पहुँचाये बिना समझा जा सकता हो तो उसे लेखिका को विशद करना चाहिये था।

अंत में भोग्य-भोक्तृ-भाव के सम्बन्ध में कुछ। भोग्यता, विषयता ये सर्वथा सापेक्ष धर्म हैं। निरपेक्ष भोग्यता (भोक्तृता भी) तथा विषयता (विषयिता भी) की बात ही नहीं की जा सकती। सांख्य का केवली पुरुष न विषयी है न भोक्ता। किसी भी संदर्भ में उसके लिये इन शब्दों का प्रयोग करना वदतोव्याघात है। बुद्धिगत पुरुष-प्रतिबिम्ब या उपराग को ही सांख्य भोक्ता मानता है। इस भोक्ता के भोग या सुख-दुःखानुभव का विषय बाह्यान्तर पदार्थ, घटनायें आदि हैं। यदि सुख-दुःखानुभव तथा उसके विषयों को समान रूप से भोग्य या विषय मान लें, जैसा कि लेखिका का मत है, तो इन विषयों का पुनः भोग या अनुभव इनसे अलग मानना आवश्यक हो जायगा। इस द्वितीय भोग को भी विषय-कोटि में रख बाह्य मान लिया जाय तो तत्संबंधी तृतीय भोग की कल्पना करनी पड़ेगी जो अनवस्था को जन्म देगी। हां, पुरुष के समान पुरुष के प्रतिबिम्ब को भी सर्वथा भोग्य-भोक्तृ

से अतिक्रान्त माना जाय तो किसी तरह बाह्याभ्यंतर भेद की रक्षा की जा सकती है। तब भोग भोक्तृ-निरपेक्ष (विषयी भी विषय-निरपेक्ष) हो सकता है। किन्तु उस परिस्थिति में पुरुष या तत्प्रतिबिंब-युक्त बुद्धि को भोक्ता कहने का कोई तुक नहीं होगा। शंकर के प्रस्तुत आक्षेप का मर्म समझने पर उक्त तर्क उससे कैसे विसंगत है यह स्पष्ट हो जायगा। सुख-दुःखानुभव में अनुभविता अनुभव से तादात्म्यापन्न होता है (जिसका प्रमाण 'मैं सुखी या दुखी हूं' जैसे उद्गार हैं।) अनुभव-विषय अनुभव से परे ही रहता है। यह उसकी अनुभव-बाह्यता तात्त्विक है, ज्ञानमीमांसीय नहीं है। इन दोनों को एक विषय-कोटि में रक्खा जाय तो 'मैं सुखी हूं' के समान 'मैं घट-पटादि हूं' जैसे प्रयोग भी संभव मानने होंगे।

नारायण शास्त्री द्राविड़
प्रोफेसर्ज़ कोलोनी, हनुमान नगर, नागपुर।

उन्मीलन : वर्ष ३, अंक १–२
जनवरी-जुलाई, १९८७

7

विमर्श

सांख्य और श्रुति

डॉ. सुश्री प्रेमलता शर्मा ने **उन्मीलन** के प्रवेशाङ्क में यह स्थापना की है कि "सांख्य-कारिका ने·······पर-तत्त्वों के ज्ञान के लिए श्रुति को प्रमाण नहीं माना है। आप्तवचन को सांख्य ने केवल देवी-देवताओं आदि के लिए ही प्रमाण माना है, जो सांख्य के अनुसार ऐन्द्रिक अनुभव, विवेक और तर्क तीनों के अविषय हैं ।·······सांख्य श्रुति को परमार्थ-ज्ञान में प्रमाण स्वीकार नहीं करता, बल्कि उसे इस कारण अशुचि भी मानता हैं।" (पृ. 34) तीसरे, अर्थात् वर्ष 2 के दूसरे अङ्क में उन्होंने यह भी मत व्यक्त किया है कि "दुर्भाग्य की बात यह है कि जब कि सांख्य को श्रुति-प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं थी तब भी उसने देवताओं आदि के अस्तित्व के लिए इस प्रमाण को स्वीकार किया। किन्तु देवताओं आदि का अस्तित्व उस दर्शन का विचार-विषय नहीं है, इसलिए यह प्रमाण सांख्य के लिए अनावश्यक है।" (पृ. 134) प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़ ने इस मत की आलोचना की है।

डॉ. द्राविड़ का मत है कि सांख्य के अनुसार श्रुति अशुचि नहीं बल्कि 'श्रुति-विहित पशु-हिंसादि कर्म ही·······ईषत् पापकारक (अतएव अशुचि) होता है।' (वर्ष 2, अंङ्क 1, पृ. 52) सही है, यहाँ श्रुति अशुचि नहीं, अपितु उस का कर्म-काण्ड अशुचि हो सकता है, ज्ञान-काण्ड अशुचि कैसे ? वह तो अपवर्ग-साधक है, और अपवर्ग सांख्य का भी परम पुरुषार्थ है। तथापि **सांख्य कारिका** 'आनुश्रविक' को अशुचि मानती है, वह उसका विभाग नहीं करती। यह स्पष्ट ही शिथिल पदप्रयोग-शैली का द्योतक है। किन्तु यह स्मरण रहे कि केवल कर्मकाण्ड के लिए वेद, श्रुति, आदि का प्रयोग अन्यत्र भी होता रहा है, यहाँ तक कि गीता में भी।

अच्छा, श्रुति-प्रमाण का प्रमेय क्या है ? **साङ्ख्यकारिका** में केवल एक सङ्केत प्राप्त होता है—जिन परोक्ष विषयों की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी नहीं हो सकती उनकी सिद्धि आप्तागम से हो सकती है। (का. 6) वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह प्रमाण महदादि के आरम्भक्रम और स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि में चरितार्थ होता है। गौड़पाद इन्द्र का देवराज होना, उत्तरकुरु, स्वर्ग में अप्सराओं के अस्तित्व को इस प्रमाण का विषय बतलाते हैं। प्रेमलता जी इन्हें सांख्य दर्शन के विषय नहीं मान कर श्रुति-प्रमाण को सांख्य के लिए अनावश्यक घोषित करती हैं। मै समझता हूँ कि ये

विषय भी सांख्य के अन्तर्गत आते हैं। उदाहरणतः कारिका 53 और 54 द्रष्टव्य हैं, जो इस प्रकार हैं—

अष्टविकल्पो दैवस् तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः स्वर्गः॥
ऊर्ध्वं सत्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः,
मध्ये रजोविशालो, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः।

द्राविड़ जी का मत है कि महत्, अहङ्कार, तन्मात्र, मन आदि की सत्ता तथा इन का उत्पाद-क्रम अनुमानातीत और श्रुतिगम्य है। किन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में कोई युक्ति नहीं दी है। प्रेमलता जी के इस कथन में बल प्रतीत होता है कि महदादि प्रकृतिवत् अनुमेय हैं।

मैं समझता हूँ कि **सांख्यकारिका** की प्रमाण-व्यवस्था में सांख्य-तत्त्वज्ञान की दृष्टि से भी घोर अव्यवस्था है। उसमें प्रमाण तीन ही मान्य हैं—दृष्ट अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान, और आप्तश्रुति। यहाँ आर्षज्ञान का उल्लेख नहीं है अतः वाचस्पति मिश्र का कथन है कि यह प्रमाण-व्यवस्था लौकिक दृष्टि से की गयी है। अतीन्द्रिय, परोक्ष, और सामान्यतोदृष्ट अनुमान के भी अविषय तत्त्व आप्तागम के विषय कहे गये हैं, आर्षज्ञान के विषय नहीं। इस का अर्थ यह हुआ कि परम तत्त्व या तो अनुमेय हैं या आगम-सिद्ध, किन्तु उनका साक्षात्कार असम्भव है। अथवा उनके साक्षात्कार की चर्चा भी सांख्यशास्त्र का अविषय है, जैसा वाचस्पति मिश्र मानते हैं।

अस्तु, मेरा मानना है कि **सांख्यकारिका** के अनुसार मूल प्रमाण दृष्ट और अनुमान हैं। दृष्ट का क्षेत्र केवल इन्द्रियगोचर जगत् है, जबकि अनुमान का इन्द्रियगोचर और अतीन्द्रिय दोनों। आप्तश्रुति भी इन्हीं के प्रति प्रवृत्त होती है। जहाँ दृष्ट और अनुमान की प्रवृत्ति में बाधा अथवा विलम्ब है वहाँ आप्तश्रुति से काम चला सकते हैं, किन्तु बाद में अनुकूल परिस्थिति में दृष्ट और अनुमान का प्रयोग किया जा सकता है। अतीन्द्रिय विषयों में प्रायः सामान्यतोदृष्ट अनुमान काम देता है, किन्तु सामान्य बुद्धि की सीमा के अनुसार उसकी भी सीमा है, अतः विशेषज्ञों के उपदेश पर आश्रित होना पड़ता है। और विशेषज्ञों का ज्ञान भी दृष्ट और अनुमान ही द्वारा संगृहीत हुआ होता है।

यह तो हुआ **सांख्यकारिका** के प्रमाण-प्रकरण का निष्कर्ष, किन्तु समस्या इतनी ही नहीं है। क्या सांख्यकारिका में निबद्ध सारा तत्त्वज्ञान केवल स्वतन्त्र अनुमान अथवा केवल आप्तश्रुति से उत्प्राणित अनुमिति मात्र है? और जिस आप्त पुरुष ने बतलाया होगा कि धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, और अनैश्वर्य ये सात बन्धकारक हैं (का. 44–45, 63, 65), क्या वह स्वतन्त्र अनुमान के सहारे इस निष्कर्ष पर पहुँचा होगा? वस्तुतः तत्त्व-साक्षात्कार-विरहित अनुमान पंगु होता है, अधिक दूर तक नहीं जाता, कम से कम वह ऐसा मनोबल तो उत्पन्न ही नहीं कर सकता कि उस के आधार पर कोई मनुष्य सर्वस्व त्याग कर तत्त्वाभ्यास में सर्वात्मना प्रवृत्त हो जाय।

वस्तुतः **सांख्यकारिका**-प्रतिपादित प्रमाण-त्रितय द्वारा जिस प्रमिति की निष्पत्ति होती

है वह पूर्णतः निर्भ्रान्त नहीं होती । उस की निर्भ्रान्तता मात्र व्यावहारिक और आपेक्षिक कोटि की समझी जानी चाहिए । पूर्णतः निर्भ्रान्त, सम्यक् ज्ञान का निरूपण करते हुए **सांख्यकारिका** कहती है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि, न मे, नाहमित्यपरिशेषम्,
अविपर्ययाद् विशुद्धं, केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।। (64)

अर्थात् सांख्यकारिकोक्त रीति से तत्त्वाभ्यास से 'नास्मि' 'न मे,' 'नाहम्' इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसकी तीन विशेषताएं बतलायी गयी है—अपरिशेष (सर्वविषयक), अज्ञान का लेश भी न होने से विशुद्ध, और केवल (निरपेक्ष) । यह ज्ञान निश्चय ही उक्त प्रमाण-त्रितय से बहिर्भूत है। इस स्तर पर उक्त प्रमाण-व्यवस्था अव्यवस्था सिद्ध होती है ।

इस प्रकार **सांख्यकारिका** के प्रमाणप्रकरणस्थ प्रमा-प्रत्यय का सीधा-सादा अर्थ प्रतीत होता है व्यवहारोपयोगी ज्ञान जो केवल ज्ञान से घटिया स्तर का होता हैं । आप्त-वचन, आप्तागम, आप्तश्रुति, अथवा श्रुति से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भी बहुत-कुछ प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय होने से प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा पुष्टि की अपेक्षा रखता है । वस्तुतः श्रुति से एक और प्रकार का ज्ञान प्राप्य है जो केवल ज्ञान के लिए कच्चा माल बनने की योग्यता रखता है । सर्वथा परोक्ष और अतीन्द्रिय विषयों में अनुमान का प्रवेश किसी सीमा तक सांख्यकारिका को अवश्य अभिमत है, किन्तु प्रायः सीधे नहीं बल्कि श्रुति में प्राप्त सङ्केतों के बल पर । मोक्ष और प्रकृति-लय के सम्प्रत्ययों पर सीधे पहुँचना कठिन है, श्रुति से सूचना प्राप्त कर के तत्पोषक तद्व्यवस्थापक प्रमाण उद्भावित किये जाते हैं ।

वस्तुतः प्राचीनतर भारतीय धर्म-दर्शन-परम्परा में श्रुति तत्त्वज्ञान के लिए कच्चा माल और दिङ्निर्देश का आकर समझी जाती थी, उसे शब्दशः स्वतःप्रमाण अथवा अन्तिम प्रमाण मानने का आग्रह अलीक था । किन्तु इस पर फिर कभी । यहाँ इतना उल्लेखनीय है कि कभी सांख्य की अपनी श्रुतियाँ हुआ करती थीं जिनका प्रायः लोप हो चुका है । इस सम्बन्ध में योगभाष्य (अपरनाम व्यासभाष्य) 2, 12, 2.23, 4.22 और महाभारत शान्ति-पूर्व 301.106, 208.17,. 320.25; 218.71, 81 द्रष्टव्य हैं ।

हर्षनारायण
42/59 रामरत्न वाजपेयी मार्ग,
नरही, लखनऊ–226001

उन्मीलन : वर्ष ३, अंक १–२
जनवरी-जुलाई, १६८७

पुस्तक-समीक्षा

थ्री लेक्चर्स ऑन जॉन राल्स, ले. डॉ. ए. पंपापति राव, इंडियन फिलासफीकल क्वार्टर्ली प्रकाशन, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे, 1981 मूल्य 10/ रु., पृ. सं. 55।

डा. राव के ये तीन व्याख्यान जॉन राल्स की पुस्तक **ए थ्योरी ऑफ जस्टिस न्याय-विषयक एक सिद्धान्त**) (हार्वर्ड विश्वविद्यालय-प्रकाशन, 1962) पर समीक्षा-आलोचना के रूप में लिखे गए हैं। डा. राव ने मुझे बताया है कि इनके बाद उन्होंने राल्स के इस ग्रंथ पर और भी विस्तृत पुस्तक लिखी है जो अभी प्रकाशनाधीन है। किन्तु क्योंकि मैंने वह पुस्तक नहीं देखी है, वह अभी प्रकाशित भी नहीं हुई है, इसलिए मैं यहां इस पुस्तक तक ही अपनी समीक्षा सीमित रखूंगा।

इस पुस्तक के प्रथम भाषण में डा. राव ने राल्स के न्याय-सिद्धान्त का विवेचन किया है, दूसरे में उदारवादी आर्थिक-राजनीतिक परंपरा में राल्स के स्थान की व्याख्या की है और तीसरे व्याख्यान में राल्सीय संकल्पना के औचित्य और युक्तता की समीक्षा करते हुए अपनी ओर से एक दूसरा विकल्प प्रस्तुत किया है। राल्स की यह कृति विस्तृत पाश्चात्य अकादमिक परिवेश में लिखी गई है और उस परिवेश की शुद्ध बौद्धिक और विश्लेषणात्मक विचारणा तथा प्रसादात्मक प्रतिपादन शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। राल्स ने समाज और नीति-विषयक अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में एक काल्पनिक आद्यस्थिति (उरिजिनल पोज़ीशन) और आद्य व्यक्ति का अभ्युपगम किया है। ये अभ्युपगमित व्यक्ति काण्टीय शुद्ध चेतना, शुद्ध द्रष्टाभाव के ही प्रतिनिधि हैं। किन्तु डा. राव इस प्रकार के निस्संग चिन्तन को समाज-दर्शन के लिए उपयुक्त नहीं मानते और इसे एक मुखौटामात्र मानते हैं। 'प्रतिबद्धता' को वे विश्लेषण की गरिमा ठहराते हैं। उनके अनुसार समाज-चिंतन प्रतिबद्ध कर्त्ता की रण-नीति का एक अस्त्र है और परिणामतः शुद्ध व्याख्या और निस्संग विश्लेषण वास्तव में एक फ़रेब हैं। किन्तु मेरे विचार में, जबकि यह प्रतिबद्धता का आक्रोश स्तुत्य है, और डा. राव के समान इस प्रतिबद्धता को व्यवहार में उतारने वालों के प्रति मेरे मन में बहुत आदर भी है, इसमें इतना संयम रखना भी आवश्यक है कि कहीं दूसरे के चेहरे की चमड़ी को ही मुखौटा मान कर उधेड़ने की भूल नहीं हो जाय। डा. राव के इन भाषणों में इस संयम की कमी दिखायी देती है। यहां यह सुझाव आवश्यक प्रतीत होता है कि क्रांति और सामाजिक नव-निर्माण के लिए उपयुक्त रण-नीति के निर्धारण के लिए भी वस्तुनिष्ठ

विचार और तटस्थ दृष्टि आवश्यक हैं। यह सही है कि राल्स भी शालीन, मध्यवर्गीय, सुविधाभोगी प्रजातंत्र के मुखर प्रवक्ता मात्र हैं और इस प्रकार साम्राज्यवादी-पूंजीवादी-उदारवादी सांठ-गांठ के परोक्ष समर्थक भी, परिणामतः उनकी तथाकथित तटस्थ दृष्टि और निस्संग-विश्लेषण वास्तव में उतने निस्संग नहीं हैं जितने निस्संग ये प्रतीत होते हैं। उनकी सामाजिक संविदा की 'मूल स्थिति' (उरिजिनल पोज़ीशन) वास्तव में उपभोक्ता बाज़ार में मांग-पूर्ति के संतुलन पर ढाला गया एक अभ्युपगम है जिसे उन्होंने एक सार्वभौमता का बाना पहनाने का प्रयत्न किया है। किन्तु यह भी उतना ही सही है कि यदि मार्क्सवादी विचारधारा को गंभीरता से लिया जाय तो उसमें वस्तुनिष्ठता के लिए सिद्धांततः ही कोई स्थान नहीं रह जाता, और डा. राव यह देख पाने में असमर्थ दिखायी देते हैं। राल्स शुद्ध तार्किक विश्लेषक हैं, वे रूढ़िवादी उपयोगितावाद (कंज़र्वेटिव यूटीलिटेरियनिज़्म) के औज़ारों से न्याय का सार्वभौम स्वरूप निरूपित करना चाहते हैं। विश्लेषण को निरपेक्ष ही होना चाहिए ऐसा वे सदैव कहते भी हैं, किन्तु डा. राव के मतानुसार, जैसाकि हम आगे देखेंगे, राल्स में यह ताटस्थ्य नहीं है और वे पूंजीवादी उत्पादन-विधि के शिकार हैं। किन्तु यदि डा. राव की यह बात सही भी हो तो भी क्या इससे यह निष्कर्ष निकालने में कोई औचित्य है कि तटस्थ व्याख्या और विश्लेषण असंभव है और इस प्रकार एक ढोंग मात्र है ? मेरे विचार में मार्क्सवाद का यह प्रतिपादन कि कोई भी चिन्तन, और समाज-चिन्तन विशेष रूप से, प्रतिबद्ध सिद्धान्तवाद (आइडियालोजी) का अनुचर मात्र होता है, एक वितंडा मात्र है। वास्तव में यह स्वयं मार्क्सवाद के लिए भी एक आत्मघाती प्रतिपादन है। खैर, मार्क्सवाद चाहे जो भी हो किन्तु तटस्थ विचार और निरपेक्ष दृष्टि न केवल संभव है बल्कि किसी भी उत्तरदायी विचार में पूर्वगृहीत भी रहती है। वैसे भी, गान्धी, सुकरात, रूसो या कांट को किसी हुक्काम, बन्दोबस्त, या वर्ग का दलाल कहने से बड़ी पूर्वाग्रहग्रस्तता और विचारहीनता अकल्पनीय है। यहां यह द्रष्टव्य है कि डा. राव राल्स की छवि बिगाड़ने का लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं करते हैं, बल्कि उसके बहुत बड़े प्रशंसक हैं। उनका मतभेद भी सैद्धांतिक न होकर उपागम और परिदृश्य में भेद के आधार पर ही है। डा. राव जबकि उत्तम और मध्यम पुरुष परक प्रयोगों द्वारा अपने विचार प्रखर खंडनात्मक शैली में प्रस्तुत करते हैं, राल्स वस्तुनिष्ठ विज्ञान-विधि के अनुसार प्रथम पुरुष के मुहावरे में एक तटस्थ द्रष्टा की भूमिका पर से एक प्रमेय-तंत्र की रचना करना चाहता है। इस दृष्टि से राल्स को मैं अधिक उत्तरदायी विश्लेषक पाता हूं। किन्तु मेरी अस्तित्ववादी मान्यताएं राल्स के प्रतिकूल हैं, वहां मैं अपने को डा. राव के निकट महसूस करता हूं।

2

डा. राव की लंबी चर्चा का प्रमुख निष्कर्ष स्वयं उन्हीं के शब्दों में यह है कि "राल्स जानते हैं कि न्याय पूंजीवाद को अंकुश नहीं लगा सकता, इसलिए वे न्याय को ही पूंजीवाद के इस्पाती शिकंजे में जकड़ देते हैं।" (पृ. 36) इसी निष्कर्ष को राव अपने अंतिम व्याख्यान में न्याय को समाज-व्यवस्था-सापेक्ष और समाज-व्यवस्था को उत्पादन-साधनों द्वारा निर्धारित देखने के मार्क्सीय सिद्धान्त का अनुमोदन कर

पुनः प्रतिष्ठित करते हैं। (पृ. 52-53) वे अपने इस भाषण का अंत अत्यन्त रोचक और भावुक क्रांतिकारी की भूमिका पर से करते हैं। उनके ही शब्दों में-"भारत में विपन्नता एवं असमानता का कहर व्याप्त है, न्याय और स्वतंत्रता विरलों के ही भाग्य में होती है, व्यक्ति की आत्मप्रतिष्ठा प्रतिक्षण आहत है। हमें न्याय का संस्थापन व्यवहार में करना चाहिए और इसके लिए उसके अनुकूल सामाजिक संगठन का निर्माण आवश्यक है। हमारे बीच करोड़ों मनुष्यों की स्वतंत्रता छिनी हुई मिलती है, समता जिन्हें न मिली है और न मिल सकती है, सौहार्द जिनके लिए केवल सपना है, असुरक्षा, भय, आशंका, क्रूर और निरर्थक आपा-धापी तथा लूटखसोट जिनके जीवन की नियति बन चुकी हैं……" (पृ. 53).

डा. राव राल्स पर मुख्य रूप से यह दोषारोपण करते हैं कि उन्होंने अपने न्याय के विश्लेषण में जिस रूपक : आद्य स्थिति (उरिजिनल सिचुएशन) : का प्रयोग किया है वह केवल पूंजीवादी आंग्ल-यूरोपीय मानसिकता का प्रतिबिंब मात्र है। (द्रष्टव्य पृ. 6, पाद-टिप्पणी 2, जिसमें वे सभी मानसिकताओं को आर्थिक उत्पादन-विधि द्वारा पूर्वनिर्धारित कहते हैं।) डा. राव अर्थ, उत्पादन-विधि एवं तंत्र से मुक्त मानव-बुद्धि को कोरा पूंजीवादी दार्शनिक मुखौटों का मज़ाक सिद्ध करना चाहते हैं। राल्स से उनकी इसी से सम्बन्धित दूसरी शिकायत यह है कि वह मार्क्स के बुनियादी सवालों को उतना महत्त्व नहीं देता जितना न्याय की व्याख्या में उसे मिलना चाहिए। (पृ. 33) राल्स उनके अनुसार न्याय की अवधारणा को ऐतिहासिक, युगीय और उपलब्ध विचारधाराओं के विशिष्ट तथ्यात्मक परि-प्रेक्ष्यों से निरपेक्ष एक सार्वभौम सन्दर्भ में निरूपित करने का दावा करता है, जो नितांत आप-त्तिजनक है।

यहां मुझे डा. राव से एक प्रश्न पूछना आवश्यक लगता है कि स्वयं उनका मत वस्तुनिष्ठ समाज-विश्लेषण के संबंध में क्या है? क्या समाज की कोई वर्ग-निर्धारण से मुक्त व्याख्या संभव है या नहीं? अवश्य डा. राव सामाजिक मूल्यों, आदर्शों, विधानों, दायित्वों को वर्गमूलक विचारधाराओं के प्रभावों के रूप में ही देखते हैं, किन्तु तब क्या वे उनके सम्बन्ध में स्वयं अपनी चर्चा, समीक्षा और युक्ति-परीक्षा को भी वर्ग और युग-स्थिति-सापेक्ष-रूप में ही देखते हैं? राल्स और कांट दोनों को प्रत्ययवादी (आइडियलिस्ट) मात्र कह कर डा. राव उन्हें त्रुटिपूर्ण कहते हैं। उन्हीं के शब्दो में-"कांट का सर्वसामान्य मानव-विचारणा (रीज़न) विषयक सिद्धान्त बहुत विवादास्पद है और यह विवाद अब काफी पुराना पड़ चुका है। यह मत वास्तविक चिन्तन के इतिहास और कलेवर से मेल भी नहीं खाता। मानव के शाश्वत स्वभाव अथवा उसकी विचारणा की कालातीतता (विषयक उसकी धारणा) केवल आंशिक और सन्देहास्पद रूप से ही सार्थक प्रतीत होती है।" (पृ. 48)

मेरे विचार में, यदि डा. राव चिन्तन के विषयनिष्ठ सत्यान्वेषण के दावे को अस्वीकार कर उसे मार्क्सवादियों के अनुरूप आर्थिक वर्ग-स्वार्थों से निर्धारित मानते हैं तोउन्हें मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुरूप वस्तुनिष्ठ समाज-चिन्तन के लिए नये औज़ार खोजने पड़ेंगे, क्योंकि आखिर वे यह तो स्वीकार करने को तैयार नहीं होंगे कि उनका यह विवेचन-विश्लेषण भी मताग्रह-ग्रस्त और अनुत्तरदायी है। उन्हें मार्क्सीय परंपरा के भीतर भी विधि-

मूलक प्रश्न पूछने ही होंगे। इन प्रश्नों के उनके उत्तर क्या होंगे, यह मैं नहीं कह सकता।

इस सन्दर्भ में डा. राव राल्स को जो सुझाव देते हैं वे यहां उद्धृत करना स्थाने होगा। उनके अनुसार : "राल्स को सर्व प्रथम समाजविज्ञान की आधारशिला की खोज करनी चाहिए थी, जैसी कांट ने प्राकृतिक विज्ञानों के लिए खोजी थी। उन्हें समाजविज्ञान की संभावना और उसकी संरचना की पूर्वापेक्षाओं को स्थिर करना होगा और उनकी पारदर्शी व्याख्या देनी होगी। जब तक वे यह सब नहीं करते उनकी मानव के मूल चरित्र विषयक अवधारणा वायवी एवं संदिग्ध ही बनी रहेगी।" (पृ. 33)

राव की यह मांग वस्तुतः उचित लगती है, क्योंकि राल्स का व्याख्या में ऐसी अनेक अवधारणाएं हैं जो कुछ ऐसे मूल्यों और विश्वासों पर आश्रित हैं जो पूर्वाग्रहपूर्ण हैं। ये अवधारणाएं किन्हीं वस्तुनिष्ठ आधारों पर स्थित नहीं हैं। इन अवधारणाओं के विपरीत अवधारणाएं यदि प्रस्तुत की जाती हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे क्यों युक्त नहीं हैं। किन्तु तब यह दोष डा. राव की प्रस्थापनाओं में भी है, वे भी मार्क्सीय विचार-धारा, उस विचारधारा के अनुसार कल्पित सामाजिक आदर्शों, समाजविज्ञान की संरचना (स्ट्रक्चर) में प्रयुक्त विभिन्न परिभाषाओं और विधियों के दो भिन्न रूपों या विपरीत व्याख्या में चुनाव के लिए कोई आधार नहीं देते हैं। उनका यह दोष तब और प्रखरता के साथ सामने आता है जब वे विश्लेषण, विश्लेष्य और विश्लेषण के औज़ारों को समान रूप से इतिहास, उत्पादन-विधि और वर्ग-संघर्ष से निर्धारित ठहराने की ज़िद्द पकड़ लेते हैं। कभी-कभी उनका उत्तम पुरुषपरक मुहावरा उनकी आलोचना पर इतना हावी हो जाता है कि वह एक विषयनिष्ठ विचार नहीं होकर विषयिनिष्ठ मताग्रह मात्र प्रतीत होने लगता है।

यह सही है कि राल्स के चिन्तन में पूंजीवादी प्रभाव से उतनी स्वतंत्रता नहीं है जितनी का दावा राल्स करता है। राल्स पर लगाये गए अपने इस आरोप को सिद्ध करने का दायित्व भी डा. राव ने अंशतः ही निभाया है। किन्तु इसमें डा. राव सदैव युक्ति-तर्क की मर्यादा में नहीं रह कर भावुकता के स्तर पर उतर आते हैं। (द्रष्टव्य पृ. 30—33) उदाहरणतः वे कहते हैं "मैं यह नहीं कह रहा हूं कि राल्स की मूल व्यक्ति की अव-धारणा में कोई आत्मबाधकता-दोष है, यद्यपि मैं समझता हूं कि यह दिखा सकना कठिन नहीं होगा··· (किन्तु) मैं यह निश्चित रूप से सिद्ध कर सका हूं कि उपर्युक्त राल्सीय धारणा के निरूपण में कम से कम एक ऐसा तत्त्व अवश्य है जिसे वह समुचित वैधता और संगति देने में असमर्थ रहा है। यदि मैं यह दिखाने में सफल होता हूं तो राल्स के लिए अपने प्रतिपादन को बदलना आवश्यक होगा।" (पृ. 32)

राव ने यह भी विस्तार से दिखाने का प्रयत्न किया है कि राल्स पाश्चात्य विचार-परंपरा की दो धाराओं—आंग्ल-अमरीकी और महाद्वीपीय-यूरोपी—(मिल-ह्यूम-सिजविक एक ओर और कांट-हेगल दूसरी ओर) का सहज संगम बनना चाहता है, किन्तु अन्ततोगत्वा वह ब्रिटानी परंपरा की गिरफ़्त में आकर पुनः परंपरागत ब्रिटानी व्यवहार के आदर्शों को प्रतिष्ठित करने में ही प्रवृत्त हो जाता है। ऐसा करके वह यूरोपीय बुद्धिवाद की सामाजिक दृष्टि को महत्त्वहीन बना देता है। उनके अनुसार "यदि राल्स यूरोपीय दृष्टि को भी उचित

महत्त्व देता तो न्याय के उसके प्रतिमान का स्वरूप मार्क्स से उतना भिन्न नहीं होता।" (पृ. 35) इस आलोचना के अंत में डा. राव कहते हैं कि राल्स का न्याय का सिद्धान्त आइंस्टाइन के साधारण और विशिष्ट सापेक्षता-सिद्धान्तों के अनुरूप प्रथम पक्ष में पूंजीवादी उत्पादन-व्यवस्था और द्वितीय पक्ष में समाजवादी आर्थिक तंत्र के रूप में बांटा जा सकता है। किन्तु ये समानधर्मी नहीं हो सकते। वस्तुतः प्रश्न न्याय के मूल स्वरूप के निरूपण का नहीं होकर उत्पादन के दो रूपों में चयन का है। अर्थतंत्र का स्वरूप वह नियामक तत्त्व है जिसे मार्क्स ने सामाजिक सम्बन्धों का आधार कहा है। वितरण-व्यवस्था की प्रणालियां उत्पादन-प्रणालियों के स्वरूप से अपरिहार्य रूप से निर्धारित होती हैं। (गोथा-कार्यक्रम की मार्क्स द्वारा समीक्षा।" (पृ. 36)

डा. राव ने अपने प्रथम व्याख्यान में राल्स द्वारा प्रस्तावित न्याय के प्रतिमानों की चर्चा की है और अंतिम व्याख्यान में उसकी आलोचना। मैंने राव के इन व्याख्यानों के अतिरिक्त स्वयं राल्स के ग्रंथ का भी अध्ययन किया है और पाया है कि डा. राव बहुत कुछ अपने पूर्वाग्रहों के कारण और अंशतः अपने सीमित उद्देश्य के कारण राल्स के इस बृहत् ग्रंथ में प्रस्तुत विस्तृत व्याख्याओं का समुचित आकलन नहीं कर पाये हैं और जितना कर पाये हैं उसमें वे तटस्थ और प्रामाणिक नहीं हैं। अपने मार्क्सीय पूर्वाग्रह से उत्तेजित होकर वे बहुत बार पुनरावृत्तियों से भी नहीं बच पाये हैं। ये पुनरावृत्तियां राल्स के ग्रंथ में भी हैं, किन्तु तब वह 3 भागों, 9 अध्यायों और 86 उपाध्यायों वाला 564 पृष्ठों का बृहत् ग्रंथ है। इस पुस्तक के तीन भाग हैं—(1) सिद्धान्त (183 पृ.), (2) संस्थाएं (187 पृ.) और (3) मानव-लक्ष्य (194 पृ.)। राल्स का यह प्रतिपादन सुयोजित और परस्पर पोषक संरचनाओं और युक्तियों के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। उसमें प्रयुक्त विभिन्न प्रतिज्ञाओं के आधारभूत प्रत्ययों में परस्पर अद्भुत् संगति है जिसे वे कथनों द्वारा नहीं बल्कि विभिन्न स्वतंत्र प्रतिपाद्यों को आधार प्रतिज्ञाओं से निगमित करके प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार इसमें उनके विस्तृत अध्ययन और उसके सृजनात्मक प्रयोग का भी परिचय मिलता है। एरो के गणितीय अर्थशास्त्र, सर्ली और क्वाईन के भाषाविश्लेषण, और हार्ट, मिल, सिजविक, बैंथम, सोन, केंज़, और मार्शल की अर्थ-विज्ञान-विधि,-विज्ञान, सांख्यिकी इन सबका संक्षिप्त किन्तु अभिज्ञता-पूर्ण उपयोग राल्स के इस ग्रंथ में परिलक्षित होता है। मेरी जानकारी में कोई दूसरा और दार्शनिक इतनी निष्ठा के साथ उपलब्ध ज्ञान-राशि को आत्मसात् कर न्याय के सर्वांगीण स्वरूप-विवेचन में प्रवृत्त नहीं हुआ। डा. राव राल्स की इस विद्वत्ता, विचार-शक्ति और सूझ को स्वीकार करते हैं। राल्स का यह ग्रंथ समकालीन दर्शन में एक क्लासिक कृति है इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता, और डा० राव ने इसकी इस दृष्टि से प्रशंसा में कोई कसर नहीं रखी है।

राल्स ने इस पुस्तक के भाग १, खण्ड 18 में न्याय को नैतिक औचित्य के आधार पर निरूपित किया है। श्रेयस्, और श्रेयस् (सद्) की मूलभूत नैतिक अवधारणा मूल्य और नैतिक आकलन से सह-व्यापक है। न्याय की अवधारणा राल्स के अनुसार समाज के मूलभूत तंत्र में ही चरितार्थ होती है। उसकी व्याख्या के लिए 'राज्य का विधान' और 'व्यक्ति' दोनों समान रूप से आवश्यक प्रत्यय हैं। उनका मत है कि 'न्याय' की परिभाषा केवल युक्तिमूलक

(रैशनल) सामाजिक संविदा के आधार पर ही स्थिर करनी चाहिए । यह मूल संविदा यद्यपि वास्तव में व्यक्तियों के बीच कभी घटित नहीं हुई और यह एक अभ्युपगम मात्र है, किन्तु इसके द्वारा हम न्याय का एक ऐसा विषयनिष्ठ स्वरूप निर्धारित कर सकते हैं जो सांस्कृतिक, सामाजिक और वैयक्तिक सब प्रकार की विशिष्टताओं और विषयिताओं से निरपेक्ष हो ।

यहां द्रष्टव्य है कि यद्यपि राल्स की नैतिक औचित्य पर आश्रित इस परिभाषा का लक्ष्य न्याय को समाजगत और सामाजिक संरचना में अवगुंठित दिखाना है किन्तु इसका परिणाम वास्तव में दूसरा ही होता है, क्योंकि औचित्य की यह अवधारणा विरक्त व्यक्तियों के बीच विचारपूर्वक स्थापित साझेदारी की स्थापना के साथ आरंभ होकर वहीं समाप्त भी हो जाती है। इस दृष्टि से राल्स के अनुसार 'सामाजिकता' केवल व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए व्यक्तिगत स्वार्थों का उस सीमा तक स्थगन है जिस सीमा तक पारस्परिकता के लिए यह अनिवार्य है। इस दृष्टि से डा० राव द्वारा राल्स की आलोचना पूर्णतः युक्तिसंगत है यद्यपि इसमें उनकी युक्तियां उतनी स्पष्ट और साफ नहीं हैं । इस प्रकार राल्स अंततः चरम व्यक्तिवादी ह्यूम, बैंथम, ऐडमस्मिथ और मिल से अलग नहीं हो पाये हैं । इस प्रकार समाज-तंत्र वास्तव में उन व्यक्तियों का परस्पर सहयोग है जो आत्मसिद्धि के लिए सर्वसम्मत नियमों की एक व्यवस्था को अंगीकार करते हैं । राल्स ऐसी संविदा के प्रारूप की विस्तृत व्याख्या इस ग्रंथ में करते हैं और इसे ही न्याय का विश्लेषण कहते हैं। (द्रष्टव्य, राल्स, पृ० 130–36) राल्स के ही शब्दों में, "युक्त्यनुसारी व्यक्ति वह है जो उसे उपलब्ध विकल्पों में से परस्पर संगत का वरण करता है । इन विकल्पों की वह अपने प्रस्तुत प्रयोजन को सिद्ध करने की दृष्टि से वरीयता स्थिर करता है, वह ऐसी कार्य-योजना बनाता है जो उसके अभीष्ट को अधिकाधिक सिद्ध करने में सहायक हो, और जिस योजना को सफलता के साथ कार्यान्वित कर सकने की पूरी संभावना हो । यहां मेरी एक और महत्त्वपूर्ण मान्यता है, कि यह व्यक्ति ईर्षालु नहीं होता ।" (पृ० 143) स्पष्ट है कि राल्स की व्यक्ति और समष्टि की संगति-परक उपयोगितवादी यह परिभाषा पिछले डेढ़ सौ वर्षों से चले आ रहे समाज-कल्याण-विषयक अर्थशास्त्रीय विवाद के आधार पर परिष्कृत है । किन्तु यहां यह पुनः स्पष्ट करना आवश्यक है कि राल्स की प्रतिमान-रचना समष्टिवादी प्रतीत होने पर भी घोर व्यक्तिवादी है, ऐसी व्यक्तिवादी जिसका व्यक्ति ईर्षा (और इस प्रकार किसी भी भावना से) विहीन, युक्त्यनुसारी, और आत्मपरायण है । शायद उन्होंने इसीलिए अरस्तु की व्यक्ति की अवधारणा पर दृष्टिपात किया है (द्रष्टव्य: अध्याय 65, पृष्ठ 524-33) जबकि प्लेटो की **रिपब्लिक** और **लॉज़** पुस्तकों का केवल नामोल्लेख ही किया है और सुकरात को वे केवल एक महान व्यक्ति कह कर छोड़ देते हैं । यह राल्स की अपनी एकांगी उपयोगितावादी और एकान्त व्यक्तिनिष्ठ परिभाषा का हीफल है कि वे इस प्रकार सीमित चौखटे में बँधे हैं । इसका श्रेय समकालीन विद्यालयीय माहौल की सीमित रचना-धर्मिता को ही मिलना चाहिए कि इस प्रकार के कुशल किन्तु व्यापक दृष्टि-विहीन लेखन अगाध रुचि के विषय बनते हैं ।

राल्स ने न्याय के दो प्रतिमान दिये हैं जो समकालीन राजनीतिक-सामाजिक चिन्तन में बहस के केन्द्र बने हैं : (1) सब व्यक्तियों को स्वतंत्रता का समान अधि-

कार और उसकी अधिकतम उपलब्धि का केवल उसके विस्तार के प्रयोजन से ही परिसीमन होना। (2) समाज में केवल वे ही असमानताएं स्वीकृत होना जो मूल संविदा से अनुमोदित हों और उन संविदाओं से अनुमोदित व्यवस्था-जन्य हों— जैसे समाज में स्थान-भेद के कारण। समाज में प्रत्येक स्थान को पाने के सब के लिए समान अवसरों की उपलब्धि का होना और केवल वे ही असमानताएं स्वीकार्य होना जिनका हटाना सामाजिक-आर्थिक स्तर में निम्नतम व्यक्तियों के हितों के विरुद्ध हो।

राल्स का संपूर्ण विवेचन-विश्लेषण अत्यधिक विस्तृत और विशिष्ट समाजवैज्ञानिक मुहावरे में लिखा गया है। यहां उसका विवरण अस्थाने होगा। यहां मैं केवल टिप्पणी के रूप में संक्षेप से कुछ कहूंगा : राल्स के न्याय के इन दो प्रतिमानों में प्रथम का आधार स्पष्टतः स्वतंत्रता की समानता है, आर्थिक-सामाजिक और भावनात्मक समानता नहीं, जो गांधी जी को अभीष्ट थी : अधिकतम और न्यूनतम आय में एक युक्ति-संगत अन्तर, और सामाजिक स्थान-भेद को केवल कर्त्तव्य-मूलक बाह्यारोप मानना। उनकी दूसरी कसौटी में अवश्य महात्मा गांधी के इस सूत्र की झलक मिलती है कि "सामाजिक कर्त्तव्य-निर्धारण का मानदंड समाज के प्रवंचिततम व्यक्ति का हित होना चाहिए," किन्तु यह इस अंतर के साथ कि जबकि राल्स का सूत्र केवल स्वतंत्रता तक सीमित है, गान्धी का जीवन की समस्त वास्तविकताओं तक विस्तृत।

राल्स ने सबसे बड़ा अन्याय कांट के नीति-चिन्तन के साथ किया है जब उसने उसे अहंवादी उपभोक्तावाद का आदि गुरु ठहरा दिया। कांट की नैतिक अनुभूति किसी उदासीन, विरक्त, आत्म-प्रश्रयवादी की निजहित-साधना परक नहीं ठहराई जा सकती। निरपेक्ष आदेश केवल शुद्ध, अविचल, विवेकी आत्म के संकल्प में ही जन्म लेता है।

स्पष्टतः राल्स की न्याय की अवधारणा पूर्णतः आंग्ल-अमरीकी सामाजिक परिवेशमूलक पूर्वमान्यताओं पर आधारित है, क्योंकि तथाकथित विकासमान् समाजों में 'समान स्वतंत्रता' का मूल्य वही नहीं है जो मध्यवर्गीय आंग्ल-अमरीकी समाज में है। ग़रीबी आत्म-सम्मान छीनती है और आत्म-निर्वासन देती है, यह समझने के लिए किसी को राल्स पढ़ने की ज़रूरत नहीं है। किन्तु राल्स को यह समझने की आवश्यकता है कि राजनीतिक अधिकार की समानता आर्थिक विपन्नता की स्थिति में केवल औपचारिक रस्म मात्र बन जाती है।

धर्मेन्द्र गोयल,
दर्शन विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय,
चंडीगढ़—160014

परामर्श (हिंदी)

गत आठ वर्षों से नियमित प्रकाशित होने वाली इस त्रैमासिक वैचारिक पत्रिका के नवम् खण्ड के प्रथम और द्वितीय अंकों में प्रकाशनीय कुछ लेख :–

यशदेव शल्य	:	भारतीय परम्परा में लोक-संग्रह की अवधारणा
गोविन्द प्रसाद	:	"कामायनी" के कथ्य की सन्दिग्ध प्रामाणिकता
जगत् पाल	:	रीत्यर्थक कारक एवं संभाव्य जगत्
राधाधर शर्मा	:	तन्त्रदर्शन: एक सामान्य परिचय
छाया राय	:	नैतिक मूल्य: स्वरूप-चिन्तन
प्रभाकर मिश्र	:	बौद्ध एवं ब्राह्मण सामाजिक विचार
लीलाराम गुर्जर	:	समानता की बहुलवादी धारणा
तुलसी रामशर्मा	:	नागार्जुन की कर्मफल-परीक्षा का आलोचनात्मक मूल्यांकन

सदस्यता-शुल्क : **वार्षिक : व्यक्ति : रुपये** 20/-
संस्था : रुपये 30/-

संपर्क करें :–

सम्पादक

परामर्श (हिंदी)

दर्शन विभाग
पुणे–विश्वविद्यालय
पुणे — ४११००७.

उन्मीलन : वर्ष ३, अंक १–२
जनवरी-जुलाई, १९८७

पुस्तक-समीक्षा

संदर्शन— (उत्तरप्रदेश दर्शनपरिषद् की वार्षिक पत्रिका, भाग 12; 1986, संपादक प्रोफेसर संगमलाल पांडेय, पृ. सं. 70, मूल्य रु. 20/–, प्रकाशक-उत्तरप्रदेश दर्शन परिषद् एवं रामनाथ कौल लाइब्रेरी ऑफ फिलॉसफी, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ।

संदर्शन के इस अंक में निम्न लेख संकलित हैं—1. भारतीय दर्शन क्या है—राजनारायण; 2. नैतिक एवं धार्मिक दायित्व—संगमलाल पांडेय; 3. परंपरा और आधुनिकता, अर्धशती के दर्शन में—विजय-कान्त; 4. हुसर्ल और शंकर—देवकीनंदन द्विवेदी, 5. सांख्यशास्त्रीय पुरुषार्थ-विद्या के सिद्धान्त--श्रीरामशंकर भट्टाचार्य; 6. शिक्षा-दर्शन—रमाशंकर तिवारी; 7. डा. वैंकटाचल मूर्ति का दर्शन—सत्यप्रकाश पांडेय; दो संस्मरण और एक पुस्तक-समीक्षा.

इन लेखों में सातवां लेख एक समकालीन दर्शन-कर्मी के दार्शनिक कर्म का प्रशंसात्मक मूल्यांकन है और सुलिखित है । शेष लेखों में हमें केवल दो ही ऐसे लगे हैं जो उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं, शेष लेख बहुत ही दुर्बल—निष्प्राण हैं । उल्लेखनीय दो लेख प्रोफेसर संगमलाल पांडेय और पंडित श्रीरामशंकर भट्टाचार्य के हैं । ये दोनों लेखक प्रतिष्ठित विद्वान हैं, भट्टाचार्य जी तो सांख्य के समकालीन अधिकारी चिन्तकों में अग्रगण्य हैं, यह बात निर्विवाद है । इसलिए इन दो लेखों का विचारार्ह होना स्वाभाविक ही है । इसलिए यहां हम इन दो पर ही संक्षेप में विचार करेंगे ।

पांडेय जी का लेख सृजनात्मक, मननात्मक, या आलोचनात्मक नहीं होकर एक प्रकार से विवरणात्मक है : इसमें प्राचीन भारतीय ब्राह्मण-परंपरा की मान्यताओं का विवरण है, केवल इस विवरण को उन्होंने अपनी मान्यता के बाने में, आत्मसम्मत के रूप में, प्रस्तुत किया है । इस कारण इस लेख का शीर्षक भ्रामक है, क्योंकि यह शीर्षक इस बात का निर्देशक है मानो इसमें नैतिक और धार्मिक दायित्व की अवधारणाओं पर स्वतंत्र विचार हो । स्मार्त मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण मात्र होने से इस लेख को दार्शनिक भी नहीं कहा जा सकता । परिणामतः इस पर केवल विवरणात्मक उपयुक्तता विषयक प्रश्न ही उठाये जा सकते हैं । किन्तु यह न तो **उन्मीलन** की अपेक्षाओं के अनुकूल होगा और न मैं उसके लिए अपने को सक्षम ही पाता हूं । इसलिए यहां मैं केवल ऐसे प्रसंगों का ही उल्लेख करूंगा जो मुझे अवधारणात्मक दृष्टि से सन्देहास्पद प्रतीत होते हैं ।

पांडेय जी लिखते हैं—"नैतिक नियम अनिवार्यतः अनुल्लंघनीय है। उसमें अपने कार्यान्वयन के लिए अधिकार और शक्ति रहते हैं। उसमें एक प्रकार का अंकुश भी रहता है जो उल्लंघन-कर्त्ता को दंड देता है। यह नियम सभी मनुष्यों की आत्मा में निहित है। इस लिए उसका उल्लंघन करने वाले को सामाजिक लोग दंड भी देते हैं।" (पृ. 9) इसमें पहले वाक्य में 'उल्लंघनीय' में 'ईय' (अनीयर्) का अर्थ 'उचित', 'नैतिक रूप से अपेक्षित' भी लिया जा सकता है और 'कारण-कार्य रूप से अनिवार्य' भी। किन्तु दूसरा अर्थ लेने पर नैतिक नियम प्राकृतिक नियम से अभिन्न हो जायगा जो कि स्वयं पांडेय जी को भी अभीष्ट नहीं होगा, जैसाकि पृष्ठ 13, पंक्ति 2-3 के वाक्य से प्रतीत होता है। वहां वे कहते हैं—"इसी तथ्य को आधुनिक विचारकों ने कहा कि कर्त्तव्यता को अस्तित्व से सिद्ध नहीं किया जा सकता।" किन्तु दूसरे वाक्य में नैतिक नियम में अपने कार्यान्वयन के अधिकार और शक्ति की बात की गई है जो यदि प्राकृतिक से भिन्न किसी और प्रकार की है तो उन्होंने उसके लिए कुछ बताया नहीं है। तीसरे वाक्य में इस बात की और पुष्टि होती है कि वे इसे जैसे भौतिक के रूप में ही देख रहे है। इससे चौथे वाक्य का अर्थ अस्पष्ट हो जाता है : क्या यह नियम आत्मा में उस प्रकार निहित है जिस प्रकार दियासलाई में ज्वलनशीलता याकि उस प्रकार जिस प्रकार पतंगे में दीपक की लौ पर लपकने की प्रवृत्ति ? इस नियम की आत्मा में विद्यमानता चाहे जैसी भी हो किन्तु इससे इसके अगले वाक्य की प्रतिज्ञप्ति आपादित नहीं होती—यदि नैतिक नियम हमारी आत्मा में निहित है तो उसका उल्लंघन करने पर समाज हमें दंड क्यों दे ? दूसरे, 'दंड देता है' तथ्यात्मक (अस्तित्वात्मक) कथन है जिसका अर्थ हो जाता है कि आत्मा में नियम की विद्यमानता भी तथ्यात्मक है। तो क्या इनमें सम्बन्ध कारण-कार्यात्मक है ? इसके अतिरिक्त, यदि आत्मा में नियम की विद्यमानता तथ्यात्मक है तो हम उसका उल्लंघन कैसे कर सकते हैं ? यदि तथ्यात्मक नहीं है तो अगले वाक्य की इससे संगति कैसे होगी ?

आगे पृष्ठ 10, अनुच्छेद 2, पंक्ति 6 में नैतिक और धार्मिक दायित्वों में भेद मानने वालों और दूसरे दायित्व को प्रथम से उत्कृष्टतरकहने वालों को पांडेय जी ने प्रत्ययवादी कहा है। धर्म का चाहे वे कोई भी अर्थ करें क्या उनमें से किसी भी अर्थ में नैतिक दायित्व से धार्मिक दायित्व को उत्कृष्टतर मानने वालों को प्रत्ययवादी कहा जा सकता है ? उदाहरण के लिए मान लें कि कोई व्यक्ति पिता की आज्ञा का उल्लंघन करके भी हवन करने को आवश्यक मानता है, तो क्या आप उसे प्रत्ययवादी कहेंगे ? इसी प्रकार 'लोकायतवादी' शब्द का प्रयोग भी अयुक्त है—क्या आप जी. ई. मूर को लोकायतवादी कहेंगे ?

अब एक प्रश्न विवरण विषयक है : पृष्ठ 13 के अंतिम पांच वाक्य देखें। पांडेय जी कहते हैं, वेदान्त के अनुसार "वेद विधि के अतिरिक्त ब्रह्म का भी ज्ञापक है और विधि-ज्ञान इस ब्रह्म का प्रतिभास मात्र है। अर्थात् ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व में विधि का उद्भव होता है और वह अनुत्पन्न और अनादि नहीं है।" सर्वप्रथम, ऐसा कौन वेदान्ती कहता है ? "ईश्वर" के लिए अवश्य वेदान्ती "माया में ब्रह्म का प्रतिभास" जैसे पद का प्रयोग करते हैं, किन्तु यह पद विधि के लिए कैसे उपयुक्त होगा ? फिर पांडेय जी ने ब्रह्म का प्रतिभास

किस में, यह भी नहीं बताया। उन्होंने विधि को ब्रह्म का स्वप्रकाशत्व ही बता दिया, किन्तु क्या स्वप्रकाशत्व भी उत्पन्न और सादि है? यदि नहीं तो विधि की उसमें उत्पत्ति का हेतु या कारण क्या है? इसके अतिरिक्त, पांडेय जी विधि को ब्रह्म का प्रतिभास भी कहते हैं और स्वप्रकाशत्व में उद्भूत भी, क्या यह एक ही बात है? यदि एक ही बात है तो जगत् क्या है, यह क्या प्रकाशित अपर है? और क्या यह ब्रह्म का प्रतिभास नहीं है? यह प्रश्न भी विचारणीय है कि वेद यदि ब्रह्म का ज्ञापक है तो ब्रह्म के स्वप्रकाश रूपेण या पर-प्रकाश रूपेण? यदि स्वप्रकाश-रूपेण तो ब्रह्म-प्रतिभास-रूप विधि का वह किस प्रकार का ज्ञापक है? भास और प्रतिभास दोनों का कोई स्वप्रकाश-रूपेण ज्ञापक नहीं हो सकता। पुनः, ब्रह्म का स्वप्रकाश-रूपेण ज्ञापक होने पर वह ब्रह्म के भास से अभिन्न हो जाता है। यदि वह अनिर्वचनीय रूप से बद्ध आत्माओं के लिए ब्रह्म का ज्ञापक है और विधि का भी तो विधि के ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व में उद्भव का क्या अर्थ हो सकता है? यदि पांडेय जी इन सन्देहों का निराकरण करने की कृपा कर सकें तो निश्चय ही हम बहुत उपकृत होंगे।

विधि-निषेध को शंकर और उनके सब अनुयायी कर्म-विषयक और इस प्रकार अवर-स्तरीय, ब्रह्म-जिज्ञासु के लिए अतिक्रमणीय, कहते हैं। तब पता नहीं पांडेय जी इसे ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व में उद्भूत कैसे कहते हैं? इतना ही नहीं, यहां एक और बड़ी, और शायद अधिक मूलभूत, कठिनाई है: विधि की ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व में काल-विशेष पर उत्पत्ति वेदांत-सिद्धान्त में वदतोव्याघात जैसी लगती है, क्योंकि काल–प्रक्रिया, कारण-कार्य–भाव आदि मायोपाधि हैं, ब्रह्मस्वभाव नहीं।

पांडेय जी आगे विधि के सम्बन्ध में मीमांसा से वेदान्त का भेद बताते हुए कहते हैं कि "जिस विधि को मीमांसक निरपेक्ष कहते हैं वास्तव में वह चिद्रूप ब्रह्म है।........ वह (ब्रह्म) विधि की प्रतिष्ठा है।" (पृ. 14) यहां हमारे दो सन्देह हैं: प्रथम, पांडेय जी यहां एक-साथ विधि और ब्रह्म में भेद और अभेद बता रहे हैं। इसके उत्तर में वे कह सकते हैं कि वेदान्त के अनुसार प्रतिष्ठा और प्रतिष्ठित में तत्त्वतः भेद नहीं है। किन्तु तब सब जगत् ही—विधिमय और अविधिमय सब को संगृहीत करते हुए—ब्रह्म से अभिन्न है, तब विधि की इस दृष्टि से क्या विशेषता है? दूसरे, विधि के ब्रह्म या ब्रह्म-प्रतिष्ठित होने पर उसके निरपेक्ष होने में क्या बाधा है यदि यह नहीं कहें कि ब्रह्म वस्तु है, कर्म-साध्य नहीं। तब यही कहना होगा कि वेदान्त विधि को तत्त्व-रूपेण स्वीकार नहीं करता। और वास्तव में यही बात है भी, वेदान्त ब्रह्म को ज्ञान-विषय मानता है, कर्म-विषय नहीं मानता है। ज्ञान-विषय भी अकर्मक अर्थ में, सकर्मक अर्थ में नहीं।

अब हम दूसरे उल्लेखनीय लेख पर विचार करेंगे। श्रीरामशंकर भट्टाचार्य की सांख्यदर्शन-विषयक विद्वत्ता के सम्बन्ध में हमने पीछे कहा ही है। ईश्वरकृष्णकृत सांख्य-कारिका और सांख्यसूत्र पर उनकी टीकाएं निश्चय ही वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु की व्याख्याओं को आगे बढ़ाती हैं। किन्तु वे व्याख्याएं सांख्य-सिद्धान्त को उसकी अतीतता से मुक्त कर समकालीन नहीं बनातीं। कहा जा सकता है कि टीका में यह बहुत दूर तक संभव नहीं है। यदि यह मान भी लें तो भी लेख में यह संभव है और वास्तव में व्याख्याओं के बाद

लेख लिखने का औचित्य भी तभी हो सकता था। किन्तु वे इस लेख में अणुमात्र भी विचार की प्राचीन सरणियों से बाहर नहीं निकल पाये हैं। वास्तव में यह आश्चर्य की बात है कि हमारे देश में आज भी बहुत से लोग हैं जिनका विचार पुरातत्त्व संग्रहालय की शोभा बढ़ाने के योग्य ही है, जीवन्त नहीं है। यहां हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि 'जीवन्त' या 'आधुनिक' से हमारा अभिप्राय किसी वाद विशेष से या वैज्ञानिकता से नहीं है, बल्कि इससे है कि वह समकालीन चिन्तन के धरातल पर हो, समकालीन चिन्तन-धारा में वह विचार प्रवाहित हो। इसके उदाहरण स्वरूप श्री अरविन्द के 'दिव्यजीवन' और 'गीता-प्रबन्ध' ग्रंथ देखे जा सकते हैं।

इस लेख की इस सामान्य आलोचना के बाद हम यहां उनके लेख पर अंतरंग दृष्टि से कुछ टिप्पणियां करेंगे।

भट्टाचार्य जी ज्ञान और अज्ञान की व्याख्या करते हुए कहते हैं : "विक्षेप-प्रहाण ही प्रकृत ज्ञान है जो कैवल्य का साधक है। जो ज्ञान विक्षेप का ही प्रकार-भेद है उसका संस्कार चित्त में रहता है क्योंकि कभी उसका उदय हुआ ही होगा। (संसार के अनादि होने के कारण)" (पृ. ३२) यहां प्रश्न है, यदि संसार अनादि है तो संस्कार-शृंखला भी अनादि ही होगी, क्योंकि संसार संस्कार-शृंखला के अतिरिक्त और है ही क्या ? अब, यदि यहां विशेष संस्कारों की बात की जा रही है, और उदित संस्कार सदैव विशेष ही होंगे, तो उनकी उत्पत्ति के लिए संसार की अनादिता कैसे अपेक्षित है ? यदि कहें कि विशेष संस्कारों का काल-विशेष में ही उदय होता है किन्तु सस्कार-प्रवाह अनादि है, तो भी बात नहीं बनेगी, क्योंकि प्रत्येक संस्कार विशेष ही होगा। किन्तु इस कठिनाई को यहां जाने दें। इसके तुरन्त बाद भट्टाचार्य जी कहते हैं "विक्षेप-प्रहाण की वासना पहले से नहीं रहती। यह प्रहाण प्रथमतः किसी जन्म में होता है।" वास्तव में संसार की अनादिता से उसके प्रहाण की वासना की सादिता ही संगत है, किन्तु तब यही सिद्ध होता है कि ज्ञान-विक्षेप का नहीं ज्ञान-प्रहाण काउद्भव होता है, और विक्षेप के प्रसंग में यह कहना कि "उसका संस्कार चित्तमें रहता है क्योंकि कभी न कभी उसका उदय हुआ ही होगा" वदतोव्याघात है। यदि कभी उदित संस्कार ही चित्त में रह सकता है तो अनादि संस्कार-प्रवाह कहां रहता है ?

"बन्धन का स्वरूप और कारण" उपशीर्षक के अन्तर्गत वे लिखते हैं : "बुद्धि (ज्ञाताहम्) का अत्यन्त निरोध ही उसकी मुक्ति है। इसमें बुद्धिगत गुण-वैषम्य चिरकाल के लिए शान्त हो जाता है। यह बुद्धि की अव्यक्तभावापन्नता है।" (पृ. 35) इसमें बुद्धि का स्वरूप 'ज्ञाताहम्' कहना नितान्त अयुक्त है। सर्वप्रथम 'ज्ञाताहम्' अहंकारमूलक है और बुद्धि अहंकार से प्राक् है। बुद्धि की अहंकार से प्राक्ता का एक औचित्य यह भी है कि यह अहंकार की अविवेकता देख सकती और उसका निराकरण कर सकती है। दूसरे, अहंकार के लिए भी 'ज्ञाताहम्' का बोध अनिवार्य नहीं है, क्योंकि अहंकार जबकि जीवमात्र की व्यष्टिता का हेतु है, ज्ञाताहम् केवल अध्यवसायात्मक स्तर की विकसित चेतना में व्यक्त बोध ही है।

अब दुःख की परिभाषा देखें : "दुःख वह चांचल्य-बोध है जिसको ज्ञाता जीव

अनभीष्ट समझता है। अनभीष्ट या अननुकूल वह है जो असहनीय परिणाम उत्पन्न करता है।" सर्वप्रथम, दुःख चांचल्य-बोध नहीं चांचल्य मात्र है; चांचल्य के बोध-विषय होने पर वह चांचल्य ही नहीं रहेगा, कम से कम बोध, चाहे वह चांचल्य का ही हो, चांचल्य नहीं हो सकता और परिणामतः दुःख नहीं हो सकता। अब 'अनभीष्ट' की बात। सांख्य चांचल्य मात्र को ही अनभीष्ट मानता है, प्रतीति में वह चाहे अनभीष्ट हो या अभीष्ट, जैसाकि स्वयं भट्टाचार्य जी की "दुःख और दुःख-निरोध-उपाय" शीर्षक की पांचवीं प्रतिज्ञा से भी आपादित होता है। यदि कहें कि अनभीष्टता अनभीष्टता के अनुभव, अथवा अधिक उचित रूप से कहें अनभीष्टानुभव, में नहीं अनभीष्ट की अज्ञानमूलकता (अधिक उचित रूप से कहना चाहिए, अभीष्ट की अज्ञानमूलकता) में है, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि भट्टाचार्य जी 'अनभीष्ट' को 'असहनीय' कह कर इस प्रकार की दुःख-विषयक तत्त्वदर्शिता के लिए कोई अवकाश नहीं रहने देते। इस प्रकार यह परिभाषा भी सांख्य की दुःख-विषयक तत्त्व-दृष्टि के अनुकूल नहीं है, इसमें 'असहनीय' शब्द तो इसे विशेष रूप से स्थूल बना देता है। 'असह्य' शब्द तो वास्तव में स्थूल दृष्टि से भी समीचीन नहीं है, क्योंकि 'सह्य' पीड़ा भी दुःखकर ही होती है। 'असह्य' शब्द का अतिशयोक्ति के रूप में प्रयोग एक बात है और युक्त प्रयोग, जोकि दार्शनिक लेखन में अपेक्षित होता है, दूसरी बात। युक्त प्रयोग में असह्य-परिणाम राम-वन गमन पर दशरथ का दुःख था जिससे उसकी मृत्यु हो गई, कौशल्या का दुःख नहीं। छोटे-मोटे दुःख तो और भी सहज सह्य होते हैं। और सांख्यकारिका की प्रथम कारिका जिस दुःख की बात करती है उसमें तो असहनीयता की बात ही अप्रासंगिक है।

इस लेख में कुछ और भी ऐसे स्थल हैं जो आक्षेपार्ह हैं, किन्तु उदाहरण के लिए इतने ही पर्याप्त हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि भट्टाचार्य जी का लेख इस पत्रिका के लिए नहीं लिखा गया है, यह अन्यत्र पूर्व प्रकाशित है। इस प्रकार पत्रिका में केवल डिमाई आकार के 62 पृष्ठ की मूल सामग्री है। इसका अर्थ होता है कि इस पत्रिका के इस अंक में केवल एक पांडेय जी का लेख ही चर्चेय है, चाहे वह आक्षेपार्ह ही क्यों नहीं हो। प्रोफेसर टी. आर. वी. मूर्ति विषयक लेख परिचयात्मक है और यह परिचय साधारण रूप से ठीक-ठीक प्रस्तुत किया गया है। शेष इस अंक में कुछ पठनीय नहीं है। ऐसा क्यों है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण और कष्टप्रद है और वास्तव में इस प्रश्न को प्रखर रूप से उठाने के लिए ही हमने शेष लेखों की अचर्चेयता की, अपठनीयता की, बात इतनी स्पष्टता के साथ कही है। यह पत्रिका उत्तर-प्रदेश दर्शन परिषद् की है, जिस प्रदेश में बहुत से विश्वविद्यालय हैं और काशी जैसा प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र तथा इलाहाबाद जैसा आधुनिक सांस्कृतिक केन्द्र है, इस पत्रिका के संपादक एक प्रतिष्ठित, कुशल और जनप्रिय प्रोफेसर हैं। तब ऐसा क्यों है कि इस में एक वर्ष में लघु आकार के 70 पृष्ठ की सामग्री भी ऐसी नहीं जुटायी जा सकी जो कम से कम पठनीय तो हो! क्या यह बात हमारे देश की वर्तमान सांस्कृतिक परिस्थिति की शोचनीयता की द्योतक नहीं है?

यशदेव शल्य

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी

दर्शन विषयक विश्वविद्यालय स्तरीय श्रेष्ठ एवं नवीन प्रकाशन

1.	तर्क एवं दर्शन का विवेचन	विट्गेंस्टाइन अनु. प्रो. राजेन्द्रप्रसाद पांडेय	6.00
2.	दर्शन के सौ वर्ष	पासमोर, अनु. प्रो. चांदमल एवं कलानाथ शास्त्री	5.00
3.	उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण	रा. द. रानडे अनु. डा रामानंद तिवारी	17.00
4.	प्रयोजनवाद	विलियम जेम्स अनु. डा. रमेशचन्द्र शर्मा	12.00
5.	तर्क-रेखा	प्रो. सुरेन्द्र बार्लिंगे	12.00
6.	भारतीय दार्शनिक समस्याएं	डा. नंदकिशोर शर्मा	17.00
7.	मूल्यमीमांसा	प्रो. गोविन्दचन्द्र पांडे	15.00
8.	ज्ञानमीमांसा	प्रो. दयाकृष्ण	4.50
9.	शंकरोत्तर अद्वैतवेदांत में मिथ्यात्वनिरूपण	डा. अभेदानंद शास्त्री	12.50
10.	दर्शन के प्रकार	हॉकिंग, अनु. डा. रमेशचंद्र शर्मा	12.00
11.	भारतीय तर्कशास्त्र की रूपरेखा	प्रो. सुरेन्द्र बार्लिंगे	14.00
12.	फिनॉमिनॉलॉजी	प्रो. राजेन्द्रप्रसाद पांडेय	6.50
13.	वैज्ञानिक पद्धति	ए. डी. रिची अनु. डा. के. एल. शर्मा	11.00
14.	प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र	प्रो. राजनारायण	10.00
15.	डेविड ह्यूम का दर्शन	डा. वेदप्रकाश वर्मा	8.00
16.	समाजदर्शन के मूल तत्त्व	प्रो. रामजी सिंह	32.50
17.	ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धांत	डा. योहन फाइस	25.00
18.	प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिक	डा. डी. आर. जाटव	24.00
19,	माथुरी पंचलक्षणी	पं. बद्रीनाथ शुक्ल	19.50
20.	भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएं	परिसंवाद-मूलक संकलन	17.00
21.	पाश्चात्य दर्शन का इतिहास-2 खंड	(सं.) प्रो. दयाकृष्ण	43.00
22.	मानवीय ज्ञान	जॉन लॉक, अनु. डा. प्रकाश श्रीवास्तव	15.00

स्तरीय प्रकाशन, आकर्षक कमीशन, शीघ्र डिलिवरी.

सूचीपत्र के लिए लिखें निदेशक-राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर—302004.

उन्मीलन : वर्ष ३, अंक १–२
जनवरी-जुलाई, १९८७

पुस्तक-समीक्षा

इन्ट्रोडक्शन टु द तन्त्रालोक, ले. डा. नवजीवन रस्तोगी, प्रथम संस्करण, 1987, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 30 × 559, मूल्य रु. 220/-

तन्त्रालोक के कश्मीर से प्रकाशित संस्करण के अप्राप्य होने के कारण उसकी 8 जिलदों में प्रकाशित करने की वर्तमान योजना का सभी जिज्ञासुओं के द्वारा स्वागत होगा। इसी प्रकाशन की भूमिका के रूप में कश्मीरी शैव दर्शन के प्रख्यात विद्वान् डा. रस्तोगी ने प्रस्तुत पुस्तक की रचना की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ बहिरंग-प्रधान, आधुनिक पाश्चात्य समालोचन शैली में लिखा गया है। प्रथम अध्याय में **तन्त्रालोक** की रचना के उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है, दूसरे में अभिनवगुप्त की जीवनी और रचनाओं पर, तीसरे में टीकाकार जयरथ और उनके आकरों पर, चौथे में **तन्त्रालोक** के विषय और विभाजन पर, और पांचवें में आगे के शोध की दिशा पर। अन्त में बीस परिशिष्ट दिये गए हैं जिनमें ग्रंथ-समालोचनात्मक अनेक विषयों पर सूचनाएं संगृहीत हैं।

तन्त्रालोक की रचना संग्रह, प्रक्रिया, शास्त्र और स्तुति के रूप में की गयी थी। प्रस्तुत ग्रंथ में प्रक्रिया अथवा पद्धति का अर्थ साधनात्मक किया गया है। अभिनवगुप्त के विषय में उपयोगी सामग्री का संग्रह किया गया है, विशेषतः उसके विभिन्न गुरुओं के विषय में। स्पष्ट ही **तन्त्रालोक** की रचना के पीछे एक विराट् और बहुमुखी आध्यात्मिक परम्परा की गहराई देखी जा सकती है जिसे अभिनवगुप्त ने अनुभव, ज्ञान और प्रतिभा से आत्मसात् कर एक व्यवस्थित रूप दिया है। इस परम्परा के रहस्यात्मक पक्ष का भी उन्होने किंचिन्मात्र संकेत किया है।

टीकाकार जयरथ के विषय में भी डा. रस्तोगी ने विस्तृत सामग्री प्रस्तुत की है। **तन्त्रालोक** के विभिन्न प्रकरणों में वर्णित विषयों का सुगम और स्पष्ट निर्देश संस्कृत और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में दिया गया है। ग्रन्थ में उद्धृत नामों और पंक्तियों का संकलन भी बहुत उपयोगी है।

तन्त्रालोक के अध्येता के लिये पुस्तक की उपादेयता निस्सन्देह है और डा. रस्तोगी इस अत्यन्त उपयोगी एवं परिश्रम-साध्य शोधकार्य के लिये साधुवाद के पात्र हैं।

तन्त्रालोक के दार्शनिक एवं रहस्यात्मक पक्ष की ओर उन्होंने जानबूझ कर ही

दृष्टिपात नहीं किया है। उनका कहना है कि उनके पास इस अवसर पर इस प्रकार के विवेचन का अवकाश नहीं था यद्यपि इस दिशा में शोधकार्य की आवश्यकता और महत्त्व का उन्होंने स्वयं निर्देश किया है। उन्होंने अपना लक्ष्य प्रस्तुत पुस्तक में मूल सामग्री को शोध के लिये सुलभ बनाना स्थिर किया है न कि उसकी दार्शनिक व्याख्या अथवा स्पष्टी-करण। डा. रस्तोगी की पुस्तक के पाठक के लिये यह आशा करना स्वाभाविक है कि वे भविष्य में **तन्त्रालोक** के मूल तत्त्वों की व्याख्या की ओर भी ध्यान देंगे।

गोविन्दचन्द्र पांडे
11, बलरामपुर हाउस,
इलाहाबाद-211002

श्रीमद् भागवत पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, ले. डा. जवाहरलाल शर्मा, प्रकाशक-राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ. सं.16+348 मूल्य-रु.46/-

उपनिषदों को आधार बनाकर अद्वैतवेदान्त (विशेषतः मायावाद) की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य शंकर (8 वीं शती) का निरन्तर विरोध उत्पल, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व तथा चैतन्य आदि की जिस आचार्य-परंपरा ने तथा मध्यकालीन भारतीय भाषाओं का प्रयोग करने वाली सन्त-परंपरा ने किया उन सब का उपजीव्य न्यूनाधिक रूप में भागवत पुराण ही रहा है। साहित्य, संगीत, कला, धर्म तथा दर्शन को कृष्ण-भक्ति-धारा से आप्लावित कर इस संपूर्ण देश को नव चेतना से आत्म-विभोर करने का श्रेय भाग-वत को ही है इसलिए उसका अध्ययन उसी विस्तृत फलक पर होना चाहिए। व्रज में रास की जीवन्तता, चित्र-कला में अभिव्यक्त भागवत-सन्दर्भ, भाषाओं के साहित्य में इसके विभिन्न अनुवाद, भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के कृष्ण-चेतना आन्दोलन में उसका अविरल प्रवाह और न जाने कितना और कुछ श्रीमद्भागवत के सांस्कृतिक अध्ययन में समाहित होना चाहिए। वस्तुतः प्रत्येक संप्रदाय ने भागवत से अनुप्रेरित धर्म का विकास किया है और तदनुसार भागवत को समझा-समझाया है। इसलिए अच्छा यही हो कि केवल एक पक्ष को लेकर संपूर्ण ऐतिहासिक और जीवन्त सन्दर्भ में भागवत की चर्चा हो। सामान्य एवं व्यापक परिचय की दृष्टि से बहुत लोगों ने काम किया है और डा. जवाहरलाल शर्मा का ग्रन्थ भी उसी दृष्टि से उपयोगी है। उन्होंने इसके दस अध्यायों में एक-साथ भागवत के दार्शनिक पक्ष, साधना-पक्ष, आचार-पक्ष, सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक विचार, कला, धार्मिक साहित्य, व्याव-हारिक जीवन, भौगोलिक-आर्थिक सामग्री आदि का वर्णन किया है। यह वर्णन बहुत कुछ परिचित है, जो अपरिचित है उसका पृथक् उल्लेख आवश्यक है। हमारी संस्कृति के

सम्बन्ध में यूरोपीय दृष्टि स्वर्णिम अतीत की है जबकि पुराण का अर्थ है प्राचीन का नवीन में निरन्तर परिणमन या रूपान्तरण—पुरा नवं भवति। वर्णाश्रम धर्म के साथ नवीन भक्ति-धारा का अन्तर्द्वन्द्व भागवत में है। उसका प्रारंभ भी मृत्यु की विभीषिका के मध्य होता है और परीक्षित के रूप में संपूर्ण मानव-समाज सर्प-दंश की आशंका से, अथवा कहें अनागत वास्तविकता से, पीड़ित है। इसी का उत्तर भागवत धर्म में है—काम, क्रोध, भय, स्नेह, भक्ति या किसी भाव में तन्मयता का अनुसन्धान।

डा. शर्मा ने अपने सभी प्रतिपाद्यों को उचित अवतरणों से प्रमाणित किया है। अनेक उद्धरणों में मुद्रण-दोष हैं। संस्कृत शुद्ध मुद्रित हो पाना निरन्तर कठिन होता जा रहा है, पर है आवश्यक। यद्यपि विद्वान ग्रंथकार ने भागवत के उद्धरण देकर विभिन्न पक्षों का प्रामाणिक निरूपण किया है पर साथ ही यह भी आवश्यक था कि दूसरे पुराणों की दृष्टि को भी सन्दर्भित किया जाता तथा अपने निष्कर्ष भी प्रस्तुत किये जाते, अन्यथा वर्णनात्मक सन्दर्भ हमें किसी समन्वय या अन्विति तक नहीं ले जा पाते। भागवत केवल विभिन्न पक्षों का कोष मात्र नहीं है अपितु वह एक सुनिश्चित प्रस्थान है। भक्ति के द्वारा समग्र भारतीय समाज की भेदभाव-हीन एकसूत्रता उसमें पिरोई हुई है। अंततः इसी ने भारतीय समाज को सांस्कृतिक एकता में, राजनीतिक और सामाजिक भेद-विभेद के होते हुए भी, बांधा था।

रामचन्द्र द्विवेदी
संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्राप्ति-स्वीकार

१. **फ्राम क्राइसिस टु लिबरेशन** (दि गीताज् गॉस्पल इन श्री अरविन्दोज् लाइट); लेखक—ह. माहेश्वरी, प्रकाशक ह. माहेश्वरी, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरि-605002; 1986; वितरक–शब्द, श्री अरविन्द आश्रम; मूल्य 25–00

२. **सत्ताविषयक अन्वीक्षा**, लेखक-यशदेव शल्य, प्रकाशक-भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली, वितरक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986; मूल्य 75–00

सम्पादकीय

इस वर्ष **उन्मीलन** के दो के बजाय न केवल यह एक ही अंक निकल रहा है यह एक अंक भी वर्ष के अंत में निकल रहा है, आरंभ या मध्य में नहीं, जोकि अंकों के निकलने के समय हैं। यह अपेक्षित स्तर के लेख मिलने में कठिनाई और आर्थिक कठिनाई दोनों कारणों से हुआ। तो भी, लेख तो येन केन प्रकारेण मिलते ही रहेंगे किन्तु अर्थ-प्राप्ति होगी या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। अभी तो इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यह प्राप्ति नहीं होगी। इसी से हमने पहले तो यही निश्चय किया था कि इस अंक में **उन्मीलन** के निमीलन की घोषणा कर दी जाय, किन्तु जिस आदर्श को सामने रख कर इसका आरंभ किया गया था वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि उस के लिए इस पत्रिका के रूप में संघर्ष तक बंद कर देना हमारे लिए इतनी सरलता से सह्य नहीं हो सका, इसलिए अभी कुछ और हाथ-पैर मारने का संकल्प सँजोया है। इसमें हमें सफलता मिलेगी या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। एक अंक के प्रकाशन-वितरण में लगभग 3 हज़ार रुपया व्यय होता है; सोचा, अभी किसी प्रकार एक अंक की राशि तो जुटायी जाये, आगे फिर देखा जायगा, यद्यपि अभी प्रस्तुत अंक के लिए भी पूरी राशि हमारे पास नहीं है। किन्तु यदि व्यवस्था नहीं हो पायी तो स्वभावतः यह अंक अंतिम अंक होगा। हमने बहुत सी संस्थाओं और धनाढ्य व्यक्तियों से, और केन्द्रीय सरकार तथा कुछ राज्य सरकारों से केवल छः हज़ार रुपया वार्षिक अनुदान देने का अनुरोध किया, किन्तु कोई यह नहीं दे सका—वार्षिक तो दूर, एक बार भी नहीं। यह तब है जब साहित्य और संस्कृति के नाम पर हम हज़ारों, लाखों और करोड़ों रुपया व्यय कर रहे हैं। यदि कोई देखना चाहे तो उसे यह देखने में देर नहीं लगेगी कि हमारा कार्य नितांत वास्तविक है : वास्तविक संस्कृति, वास्तविक, वाङ्मय, वास्तविक भारतीयता; उस प्रकार नितांत अवास्तविक संस्कृति, अवास्तविक वाङ्मय और अवास्तविक भारतीयता नहीं जिनके नाम पर राशियां व्यय की जा रही हैं। किन्तु कोई यह देखने को तैयार नहीं है क्योंकि वास्तविकता में किसी की रुचि नहीं है।

और हमारा उद्देश्य ? हमारा उद्देश्य 'मानसिक हिन्द-स्वराज' है जिसकी ओर अग्रसर होने में हिन्दी भाषा एक साधन है। किन्तु इसमें हिन्दी केवल भारतीय भाषाओं की प्रतिनिधि के रूप में ही अभिप्रेत है, इसमें उतनी ही तमिल, तेलगू, बंगला और मराठी या दूसरी भारतीय भाषाएं भी अभिप्रेत हैं। ये उस मानसिकता के रूप में अभिप्रेत हैं जो हमारे अंग्रेज़ियत की ओर अनुधावन में व्यक्त मानसिकता से मुक्ति के लिए अनिवार्य है। इसे

यहां एक उदाहरण से स्पष्ट करूंगा – जयपुर में एक प्राथमिक विद्यालय है जिसके संचालकों ने हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों माध्यमों में अध्यापन की व्यवस्था की। इन संचालकों ने बताया कि हिन्दी-माध्यम में कोई भी अपने बच्चों को पढ़ाने को तैयार नहीं है—किसी भी जाति-वर्ण और किसी भी आर्थिक स्तर का व्यक्ति। मैं जब 1965 में पंजाब से जयपुर में आया था तो मुझे किसी मित्र ने पूछा कि बच्चों को किस स्कूल में दाखिल कराया है, तो मैंने उत्तर दिया, सरकारी स्कूल में (उस समय सरकारी स्कूलों में अध्यापन का स्तर दूसरे साधारण स्कूलों की तुलना में उतना अधिक घटिया नहीं था।) इस पर उन्होंने पूछा, "पब्लिक स्कूल में क्यों नहीं?" मैंने कहा, मैं पब्लिक स्कूलों के विरुद्ध हूं। तब उन्होंने जो कहा वह ध्यान देने योग्य है—उन्होंने कहा "इस आदर्शवाद को छोड़ो, वे सब जो दिन-रात हिन्दी और राष्ट्रीयता की दुहाई देते हैं वे भी अपने बच्चों को अंग्रेज़ी-माध्यम से ही पढ़वाते हैं।" इस पर मैंने इतना ही उत्तर दिया कि "किन्तु मैं उनमें सम्मिलित नहीं होना चाहता।" इसके पीछे जो मानसिकता है वह इतनी क्षुद्रतापूर्ण है कि हमारा मन उससे तिल-मिला उठता है। इस मानसिकता के स्वरूप का कुछ निरूपण हमने उन्मीलन के प्रथम अंक में किया था। बहुत से लोग हैं जो यूरोप के आर्थिक और सांस्कृतिक कोलोनियलिज़म' की हेयता की बात करते हैं और इस कोलोनियलिज़म में भाषा को एक मुख्य उपकरण कहते हैं, किन्तु तब भी अंग्रेज़ी में ही लिखते हैं क्योंकि वह अधिकार और सुविधाओं की स्रोत है—चाहे ये अधिकार और सुविधाएं कितनी ही उन कोलोनाइजर्स की कृपा की फल ही हों और उन्हें यह बात कितनी भी स्पष्ट क्यों नहीं हो कि उनका यह उपयोग इस कोलोनाइज़ेशन के पोषण का एक साधनमात्र ही है।

यह मानसिक उपनिवेशीकरण (कोलोनाइज़ेशन) इतना गहरा हो चुका है कि हम अपने को केवल तभी प्रतिष्ठित अनुभव करते हैं जब पश्चिम हमें स्वीकार करता है। यह एक दूसरा बड़ा कारण है कि हम अंग्रेज़ी में ही लिखना चाहते हैं। कल (16-11-87 को) लोकसभा में श्री नृसिंह राव ने वैदिक गणित का वैशिष्ट्य और उत्कृष्टता बताते हुए प्रमाण दिया कि 'इंगलैंड में भी उस पर अनुसन्धान हो रहे हैं और उन्होंने इसे बहुत विलक्षण पाया है। और कि यह हमारे लिए बहुत गर्व की बात है कि हम पश्चिम को कुछ प्रतिदान में भी दे सकते हैं।' वास्तव में इसी मनोवृत्ति के कारण हम संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद भी अपनी आधुनिक भाषाओं में नहीं अंग्रेज़ी में ही करना चाहते हैं। किन्तु हमारा अपने प्राचीन का अपने नवीन में आत्मसात्करण नहीं कर अपना अपने प्राचीन के साथ तादात्म्य स्थापित करना और इस आत्मा का पश्चिम के प्रति विषयकरण करना दुहरा आत्मघात है—इससे एक ओर हम अपने प्राचीनों के समक्ष अपने को क्षुद्र और बौना महसूस करते हैं और दूसरी ओर पश्चिम के सम्मुख बौना और विषयकृत–आत्मबहिष्कृत और आत्म-परायत्त। ये दोनों मानसिकताएं हमारे मानसिक विकास में बाधक हैं—आज का भारतीय, जिसमें विश्वविद्यालयों के अध्यापक प्रमुख हैं, या तो प्राचीन भारतीय ग्रंथों को अध्येय मानता है या प्राचीन-अर्वाचीन पाश्चात्य ग्रंथों को। ये दोनों ही उसके लिए ज्ञान-प्रद हैं, समकालीन भारतीय लेखन, भारतीय भाषाओं में लिखित लेखन विशेष रूप से, ज्ञान-प्रद की कोटि में

नहीं आता। वास्तव में समकालीन सहयोगी-लेखन का यह उपयोग होता भी नहीं, वह जड़ विषय नहीं होकर आत्मप्रतिष्ठित व्यक्तियों के बीच संप्रेषण होता हैं। आज हमारे बीच यह संप्रेषण नहीं है, यह स्थिति इस बात की द्योतक है कि हम विचार और सृजन से शून्य हैं। इधर इस स्थिति के निवारण के लिए परिसंवादों के आयोजन किये जाने लगे हैं— यद्यपि इस बात के स्पष्ट बोध के बिना ही—किन्तु इन परिसंवादों में भी हमारा संवाद परस्पर और प्रत्यक्ष नहीं होता, पाश्चात्य या प्राचीन दार्शनिकों के माध्यम से ही होता है— फ्रेगे, रसल, विट्गिंस्टाइन, हुस्सर्ल, न्याय, या शंकर के माध्यम से।

ऐसा नहीं है कि प्राचीन या विदेशी दार्शनिकों से संप्रेषण-संवाद-सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, किन्तु उसके लिए पहले अपने में विचारकता अपेक्षित है जिसका लक्षण सम्मुखीन सहयोगियों में पारस्परिकता का होना है। यह हमने उपर्युक्त मानसिकता के कारण खो दी है। उन्मीलन को हम इस मानसिकता से मुक्ति का मंच बनाना चाहते हैं। किन्तु उसके लिए कुछ न्यूनतम अर्थ की भी आवश्यकता है, क्योंकि एक दार्शनिक पत्रिका, वह भी हिन्दी की आत्मनिर्भर नहीं हो सकती। और आज हमारे देश में इसके लिए किसी के पास पैसा ही नहीं है। हम ने अनेक सरकारों, संस्थाओं और व्यक्तियों को पत्र लिखे और पत्रिका के अंक भेजे, किन्तु किसी को यह कार्य उपादेय प्रतीत नहीं हुआ। अवश्य इसमें हमारा दोष भी है कि हम ऐसा नाच नहीं नाच पाते जो प्रभु लोगों को रिझाये। पहले कभी हुए थे एक महामना, संपूर्णानंद उनका नाम था। उनके हिन्दी में दार्शनिक पत्रिका और दार्शनिक संस्था की स्थापना का विचार अव्यावहारिक कह कर मनाह करने पर भी हमने ये दोनों आरंभ कर दी थीं किन्तु तब भी उन्होंने हमें सब प्रकार से सहायता दी थी। यह बात 1954 की है। दार्शनिक त्रैमासिक और अखिल भारतीय दर्शन परिषद् आज भी जीवित हैं जिसका एक मात्र कारण आरंभिक वर्षों में उनका दिया गया सहयोग हीहै। वैसे महापुरुष की अभी हम और चार-छः मास प्रतीक्षा करेंगे। यदि सफलता नहीं मिली तो हमारी बेबसी के लिए हमारी उन दार्शनिक बन्धुओं से क्षमा-प्रार्थना है जिन्होंने आरंभ में एक-एक सौ या अधिक रुपया देकर इस पत्रिका का अस्तित्व में आना संभव किया।

लेखक-परिचय

१. **नारायण शास्त्री द्राविड़** —नागपुर विश्वविद्यालय से 1983 में दर्शन के प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त होने के पश्चात् हवाई में फैलो, संप्रति भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान-परिषद् के वरिष्ठ फैलो। अनेक लेखों के अतिरिक्त मराठी में वेदान्त पर एक ग्रंथ प्रकाशित।

२. **मुकुन्द लाठ**—जन्म 9 अक्तूबर, 1937, कलकत्ता। राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास तथा भारतीय संस्कृति विभाग में व्याख्याता। ल्यूवन (बैल्जियम), ऑक्सफर्ड, तथा बोन (जर्मनी) विश्वविद्यालयों में संगीत पर व्याख्यान अथवा अध्यापन के प्रसंग में कैंब्रिज गए, जापान फाउंडेशन के आमन्त्रण पर जापानी शास्त्रीय संगीत के अध्ययन के लिए वहां रहे, मंगोलिया में आठवीं एशियायी संगीत-गोष्ठी में भाग लिया।
प्रकाशन—अनेक लेखों के अतिरिक्त जैन तीर्थंकर महावीर के जीवन-चरित **कल्पसूत्रम्** कातथा **अर्धकथानक** का संस्कृत से अंग्रेज़ी में अनुवाद तथा **ए स्टडी आफ दत्तिलम् : ए ट्रीटाइज़ ऑन दि सेक्रेड म्यूज़िक आफ एंश्येंट इंडिया** मौलिक ग्रंथ प्रकाशित।
1951 से क्रमशः पंडित मनीराम और पंडित रमेश चक्रवर्ती के शिष्यत्व में तथा अनंतर पंडित जसराज के शिष्यत्व में संगीत-शिक्षा प्राप्त की और पंडित जसराज के साथ अनेक संगीत-सम्मेलनों में गायन किया।
भाषा-ज्ञान: मातृ भाषा हिन्दी के अतिरिक्त बंगला, उर्दू, राजस्थानी, गुजराती, संस्कृत और इंगलिश।

३. **यशदेव शल्य** — जन्म 1928, फरीदकोट (पंजाब)। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् तथा दार्शनिक त्रैमासिक की स्थापना 1954; परिषद् के मंत्री – 1954–70; अध्यक्ष 1974-80, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के वरिष्ठ फैलो—1982-85। पत्रिकाओं का संपादन : 1. दार्शनिक त्रैमासिक—1954-56, 1958-68, 1970-77 ; 2. तत्त्वचिन्तन–1968-70 ; 3. दर्शन-समीक्षा–1971–74. प्रकाशन–बहुत से लेखों के अतिरिक्त निम्न ग्रंथ–१. पन्त का काव्य और युग; २. मनस्तत्त्व; ३. दार्शनिक विश्लेषण; ४. ज्ञान और सत्; ५. संस्कृति : मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या; ६. विषय और आत्म; ७. मनुष्य और जगत् ८. सत्ताविषयक अन्वीक्षा। संपादित ग्रंथ–१. अनुभववाद, २. समकालीन दार्शनिक समस्याएं। अंग्रेज़ी से हिन्दी में दो ग्रंथ तथा अनेक लेख अनूदित।

४. **हर्षनारायण** — जन्म 1922। नॉर्थ-ईस्टर्न हिल यूनिवर्सिटी, शिलांग से दर्शन के

रीडर पद से सेवानिवृत्ति के पश्चात् अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफ़ेसर और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में विजिटिंग फ़ेलो। लगभग 100 लेखों के अतिरिक्त अधोनिर्दिष्ट ग्रन्थ प्रकाशित : 1. इवोल्यूशन ऑव डायलेक्टिक इन वेस्टर्न थॉट; 2. सिर्रे अक्बर सहित उपनिषत्समुच्चय, खण्ड 1; 3. इवोल्यूशन ऑव द न्याय-वैशेषिक कैटिगोरियॉलोजी, खण्ड 1; 4. डिस्कवरी ऑव मार्क्स; 5. फ़ेसेट्स ऑव इण्डियन रिलिजियो-फ़िलॉसॉफ़िक आइडेंटिटी; 6. भारतीय सेक्युलरवाद पर पुनर्विचार; 8. द माध्यमिक माइंड (तैयारी में)। भाषा-ज्ञान—हिन्दी, संस्कृत, पालि, अंग्रेज़ी, उर्दू, फ़ारसी, और अरबी।

५. **धर्मेन्द्र गोयल** — पिछले 28 वर्षों से पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में अध्यापन, संप्रति वहां दर्शन के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित। उससे पूर्व प्रयाग विश्वविद्यालय तथा विश्वभारती, शांतिनिकेतन में भी अध्यापन किया।
अंग्रेज़ी-हिन्दी में अनेक लेखों के अतिरिक्त **फिलासफी ऑफ हिस्ट्री** मूल पुस्तक तथा पिटिरिम सोरोकिन की पुस्तक **सोश्यल फिलॉसफीज़ ऑफ एन एज ऑफ क्राइसिस** का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित, एक संपादित ग्रंथ **फिलॉसफी एण्ड सोश्यल चेंज** प्रकाशनाधीन।

६. **गोविन्दचन्द्र पांडे** – जन्म 1923, इलाहाबाद। 1957 से 1983 तक क्रमश: गोरखपुर, राजस्थान तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालयों में प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के प्रोफेसर, सिवाय 1974-77 के अन्तराय के, जब वे राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। 1983 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कार्यवाहक कुलपति के रूप में सेवा-निवृत्त। संप्रति भारतीय इतिहासिक अनुसंधान परिषद् के राष्ट्रीय फैलो तथा "इलाहाबाद म्यूज़ियम सोसाइटी" के अध्यक्ष। पांडे जी के 50 से अधिक लेखों के अतिरिक्त निम्न ग्रंथ प्रकाशित: १. स्टडीज़ इन दि ऑरिजिंस् ऑफ बुद्धिज़्म; २ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास; ३. मूल्यमीमांसा; ४. दि मीनिंग एण्ड प्रॉसेस आफ कल्चर; ५. भारतीय परम्परा के मूल स्वर; ६, फाउंडेशंस् ऑफ इंडियन कल्चर; ७. जैन पुलिटिकल थॉट, १. क्षण और लक्षण; तथा २. अग्नि-बीज दो काव्य-संग्रह। १. अपोहसिद्धि, और २. न्यायबिन्दु अनुवाद और व्याख्या; 3. इतिहास : स्वरूप और सिद्धांत, संपादित ;

७. **रामचन्द्र द्विवेदी**— जन्म 15 जून, 1935, फर्रुखाबाद (उ. प्र.)। लखनऊ, दिल्ली, उदयपुर विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों में अध्यापन के अनंतर संप्रति राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में आचार्य। गत वर्ष भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित।
अनेक लेखों के अतिरिक्त निम्न ग्रंथ प्रकाशित: १. साहित्य–**शास्त्र एवं दर्शन**, २. **अलंकार-मीमांसा**, ३. **अलंकार-सर्वस्व संजीवनी**, ४. **काव्यप्रकाश** (अंग्रेज़ी अनुवाद, 2 भाग), ५. **न्यायकुसुमाञ्जलिटीका**।**तंत्रालोक**, 8 भाग (सं. सं.); **प्रिंसिपल्स आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म संस्कृत** (सं.); भर्तृहरि (अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद)।

विषय-सूची

१. दर्शन या अध्यात्मविद्या	नारायण शास्त्री द्राविड़	१
२. भाव और संगीत	मुकुन्द लाठ	११
३. समाज-दर्शन : भूत और भाव्य	यशदेव शल्य	२१
४. क्या भारतीय संस्कृति सम्मिश्र संस्कृति है ?	हर्षनारायण	४३
५. क्या भारतीय संस्कृति सम्मिश्र संस्कृति है ?	यशदेव शल्य	५५

विमर्श

१. सांख्य-वेदान्त वाद-विवाद, कुछ विचार	नारायण शास्त्री द्राविड़	६१
२. सांख्य और श्रुति	हर्षनारायण	६६
पुस्तक-समीक्षाएं		६९
सम्पादकीय		८६
लेखक-परिचय		८९

शुल्क : व्यक्ति २०.०० रु.
: संस्थाएं ४०.०० रु.

दर्शन प्रतिष्ठान

पी-51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-302015

यशदेव शल्य द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए पी-५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर से प्रकाशित एवं जेक प्रिंटर्स, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर में मुद्रित